मेरी जीवन-यात्रा

— जीवन-निर्माण की सरल, सुबोध एवं भावपूर्ण कहानी —

जानकीदेवी बजाज



प्रस्तावना
विनोबा



१६५६
सत्साहित्य-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९५६
मूल्य
दो रुपये

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली

प्रकाशकीय

हिन्दी पाठकों को श्रीमती जानकीदेवी बजाज की 'जीवन-यात्रा' स्व० जमनालालजी बजाज की चौदहवीं पुण्यतिथि पर भेंट करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। यह यात्रा 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में धारावाहिक रूप में निकल चुकी है, लेकिन फिर भी पुस्तक के रूप में लाने के लिए उसके क्रम और कलेवर में काफी परिवर्तन किया गया है। दो-तीन अध्याय एकदम नये जोड़े गये हैं। कुछ फिर से लिखे गये हैं। इस कारण पुस्तक विशेष रोचक तथा परिपूर्ण हो गई है।

जानकीमैयाजी अपने ये संस्मरण प्रसंगवश लोगों को सुनाती रहती थीं। श्री रिषभदासजी रांका को सूझा कि इनको लिपिबद्ध कर लिया जाय और वे इस काम में लग गये। मैयाजी सुनाती जाती थीं, वे लिखते जाते थे। उन्होंने जो कुछ लिखा, वह बापूजी, जमनालालजी तथा जानकीमैयाजी के संपर्क में आनेवाले कई लोगों के हाथों से निकला और इस रूप में आ गया। इस बात का पूरा ध्यान रक्खा गया है कि भाषा, भाव तथा यथासंभव शब्दावली भी मैया जानकीदेवीजी की ही रहे।

स्व० जमनालालजी गांधीजी के पाँचवें पुत्र बने थे। दत्तक पुत्र बनना कितना कठिन होता है, यह जमनालालजी के जीवन से परिचित लोग भलीभाँति जानते हैं, और ऐसे दत्तक पुत्र की पत्नी होना कितना कठिन रहा होगा, यह इस कथा से पाठक जान जायंगे। एक निरक्षर अबोध-बालिका के रूप में बजाज-परिवार में पहुँचकर नर्मदा के प्रवाह में पड़े शंकर की भांति वह कहां-से-कहां पहुँच गईं! उन्हीं अनुभवों, संस्मरणों एवं विचारों की यह कहानी है। जमनालालजी के संपर्क तथा बापूजी और विनोबाजी के सत्संग से किस प्रकार जीवन-परिवर्तन हुआ, संघर्षों से पैदा हुई परिस्थितियों में उन्होंने कैसे अपनेको ढाला और कैसे अपनी दृढ़ता से औरों को प्रभावित किया, इसका बड़ा ही सजीव चित्र इन संस्मरणों में आगया है। अबतक संस्मरण और आत्मकथा बहुत-सी निकली हैं और निकलती रहती हैं, लेकिन इतनी सरल, सजीव तथा निश्छल आत्म-कथा कम

ही देखने में आती है और हिन्दी में तो यह अपने ढंग की पहली चीज़ है।

इस जीवन-यात्रा में राजस्थानी सामाजिक सुधारों के साथ-साथ गांधी-युग के जीवन की भी झलक है। अकेले व्यक्ति के सुख-दुःख को लेकर देशी-विदेशी भाषाओं में अनेक चरित लिखे गये हैं, लेकिन पूरे समाज की कहानी देनेवाले इस-जैसे चरितों की संख्या अधिक नहीं है। इसे पढ़ने से बीते दिन चित्रवत् सामने आ जाते हैं।

ये संस्मरण सब याददाश्त से लिखे गये हैं। इनमें वर्णित घटना-क्रमों तथा तिथियों आदि को यथा-संभव ठीक ही दिया गया है। फिर भी कहीं कोई भूल पाठकों को दिखाई दे तो वे कृपया हमें सुझादें। अगले संस्करण में उन्हें सुधार दिया जायगा।

निषेधात्मक प्रयोगों जैसे 'न', 'नहीं' आदि के प्रति लेखिका का वैचारिक नहीं, पर मनोवैज्ञानिक विरोध रहा है। उन्होंने प्रयत्न-पूर्वक ऐसे संबोधनों को टाला है। पर सब जगह उससे बचना कठिन था। उनकी भावना यह है कि किसी चीज या किसी कार्य के लिए 'ना' कहना अस्वाभाविक है। ईश्वर की सृष्टि में परिपूर्णता है और 'ना' का निषेध है।

मैयाजी हिन्दू संस्कारों के अनुसार जमनालालजी को विशेषणों द्वारा ही संबोधित करने की आदी थी; परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने के कारण तथा गांधीजी के सम्पर्क में आने के बाद जमनालालजी का नाम से भी संबोधन करने लग गई थी। हिन्दू स्त्री का पति का नाम लेकर संबोधन करना पुराने विचारों के लोगों को कुछ अटपटा और अस्वाभाविक लग सकता है, लेकिन जब कार्य का विस्तार होता है और सैकड़ों-हजारों व्यक्तियों से सम्पर्क आता है तो स्वाभाविक ही स्पष्टता की खातिर भी नाम का उपयोग अनिवार्यतः आवश्यक हो जाता है और उसमें जो एक स्वाभाविक संकोच रहता है, वह भी धीरे-धीरे छूट जाता है। मैयाजी ने फिर भी इन संस्मरणों को सुनाते समय अधिकतर 'सेठजी' आदि का प्रयोग किया था; लेकिन एकरूपता की दृष्टि से सब जगह नाम का ही प्रयोग रखना उचित लगा।

हमें आशा है कि यह यात्रा पाठकों को पसंद आवेगी।

—मंत्री

प्रस्तावना

जानकीदेवी ने अपनी इस किताब के लिए मुझसे प्रस्तावना मांगी तो मैं इन्कार नहीं कर सका। जमनालालजी के पूरे परिवार से मेरा काफी संबंध रहा है। इसका कोई श्रेय मुझे हासिल नहीं। जमनालालजी का आक्रमणकारी प्रेम ही इसके लिए जिम्मेदार है। खैर, जिम्मेदारी किसीकी हो, वह संबंध बन गया सो बन गया।

जानकीदेवी को जो भी विद्या मिली है, अनुभव से मिली है। इसमें पढ़ाई-लिखाई का ज्यादा अंश नहीं है। इसलिए उनकी यह कहानी बहुत ही सरल भाषा में कही गई है। यह लिखी नहीं गई है। जबानी कही गई है। इसलिए यह 'कहानी' है। और मैं मानता हूं, यह पारिवारिक वर्तुलों में रोचक भी होगी।

जानकीदेवी की एक विशेषता है कि अभीतक उनका बचपन कायम है। बात करने में उनको बहुत संकोच या हिचकिचाहट नहीं रहती। इस कहानी में भी उसका अनुभव आयेगा। इस कारण उनका भाषण काफी असर डालता है। जमनालालजी को इतना वक्तृत्व नहीं सधता था। जानकीदेवी ने उसका एक बहुत ही सरल कारण बताया। वह बोलीं, " 'जैसा बोलो वैसा करो' यह एक नाहक का भूत जमनालालजी के पीछे लगा हुआ था। बोलने में कहीं अतिशयोक्ति न हो, इसकी उनको फिकर रहती थी। इसलिए वक्तृत्व उनकी वाणी से झरता ही नहीं था। हमको ऐसी कोई कैद नहीं तो क्यों वक्तृत्व नहीं सधेगा ?" जमनालालजी की वृत्ति का जो विश्लेषण इसमें किया गया है, वह मार्मिक और यथार्थ है। इसकी ताईद सभी परिचित लोग करेंगे। लेकिन जानकीदेवी के भाषणों में जो निःसंकोच वृत्ति दीखती है, उसका कारण वास्तव में उनकी बाल-वृत्ति है। बोलने के अनुसार कृति करनी पड़ती है, इसका भान उनको भी है। किये हुए संकल्प के पीछे वह कितना एकाग्र हो सकती हैं, इसका ख्याल १०८ कूप-दान-पत्रों का जो जिक्र उन्होंने किया है, उसपर से आ सकता है।

भूदान-यज्ञ में उन्होंने जो विशेष पराक्रम किया है, उसका जिक्र इस कहानी में नहीं है। पाठकों से वह बात छिपी नहीं रहनी चाहिए। बिहार की भूदान-यात्रा खतम करके हम बंगाल में प्रवेश कर रहे थे, उस दिन जानकीदेवी हमारे साथ थी। भीड़ बहुत थी, जिनमें लड़कों की भी बड़ी तादाद थी। भीड़ में से मार्ग निकालने के लिए मैंने लड़कों के हाथ पकड़ कर दौड़ना शुरू किया। बुजुर्ग लोग पीछे रह गये। लड़कों के साथ हम दौड़ते हुए आगे चले गये। मुझे खयाल न रहा कि ६२ साल की एक बालिका भी लड़कों के साथ दौड़ती आ रही है। दौड़ते-दौड़ते वह गिर पड़ी। उनके घुटने में चोट आई। दर्द शुरू हुआ जो कम-बेसी आजतक जारी है। अब वह दौड़ तो क्या सकेंगी, पर ज्यादा चल भी नहीं सकतीं। पर उनका मन दौड़ता ही रहता है।

परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि जानकीदेवी की यह बालवृत्ति अंत तक कायम रहे और हम सबको उसका स्पर्श हो।

पोचमपल्ली
३०-१-१९५६

विषय-सूची





गो-सेवा संघ की ओर से लेखिका द्वारा प्रधान मंत्री नेहरूजी का स्वागत

मेरी जीवन-यात्रा

: १ :

कुटुम्ब-पाल

मेरे पिताजी का नाम गिरधारीलालजी था। उनका वर्ण गोरा था। वह ऊँची घुटनों तक की धोती पहनते थे। कसूम्बी रंग की पगड़ी बांधते थे। वह लाल रंग को शुद्ध मानते थे, इसलिए धोती की किनारी भी लाल ही उन्हें पसन्द थी। किनारी बारीक नक्शी की होती थी। कानों में सोने की मुरकियाँ पहनते। मूछें रखना धार्मिक दृष्टि से वर्जित समझते थे। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में दूध, पानी या खाने की वस्तुओं से बालों का स्पर्श होना अशुद्ध माना जाता है। वे बगलबन्दी पहनते थे, जो पूरी बाँहों की होती थी। जब वह बैठे होते, तब बड़े भव्य लगते थे। शरीर भी स्वस्थ था। ८६ साल की उम्र तक वह बराबर पैदल ही मंदिर जाते रहे। उनका रास्ते-चलते हाथ जोड़कर नमस्कार करना याद आता है। वह मुँह से पहले 'नारायण' शब्द का ही उच्चारण करते थे, क्योंकि श्रीवैष्णवों की साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार मुंह से बोलते समय सदा प्रथम शब्द 'नारायण' का ही उच्चारण हो, ऐसा रिवाज-सा था। शायद इसके पीछे 'नारायण' के स्मरण की या सबकुछ नारायण का ही है, ऐसी समर्पण की भावना रही हो या यह भी हो सकता है कि पता नहीं कब मृत्यु आ जायगी, इसलिए मुख से 'नारायण' शब्द ही निकले। वे यही कहते कि 'नारायण के सब ठीक है न ?' 'नारायण के फल लेनो है', 'नारायण के भोग चढ़ाणो है।' उन्हें लोग सत्पुरुष, दुखियों के सखा और कुटुम्बपाल मानते थे।

किसीने मिलते ही वह उसके सुख-दुःख की बात पूछते। मालूम होता कि किसी लड़की का विवाह है, कोई घर में कार्य-प्रयोजन है, तो

पूछते—"नारायण के के सलुको है ?" वह बोलता—"दादाजी, सो-एक रुपया की तो तजवीज है पण..." वह समझ जाते कि इसे सौ-पचास की जरूरत है, सो झट एकाध बोरी अनाज और कुछ रुपए भिजवा देते। वह रुपये गिनकर नहीं देते थे। मुट्ठी भरकर दे देते थे। हमारे यहाँ रुपए के बदरे (जाली की थैलियाँ) मचान पर रहते थे। रुपये वजन से ही प्रायः तोले जाते थे। सहायता पानेवालों में ब्राह्मण, बनिये, किसान, मजदूर, हिन्दू, मुसलमान सभी रहते।

धार्मिक नियमों के पालन में वह कट्टर थे, पर उनमें सेवा-सहायता के बारे में भेद-भाव नहीं था। वह श्रीरामानुज या श्रीविष्णु सम्प्रदाय के थे। हमारे यहाँ श्रीविष्णु भगवान की पूजा होती थी, जिन्हें व्यंकटेश, बालाजी अथवा वेणीगोपालजी भी कहा जाता है। व्यंकटेशजी के साथ रुक्मिणी और सत्यभामा की मूर्तियां भी रहती थीं। घर में धार्मिक वातावरण था और छूआछूत भी बहुत रहता था। चिड़िया के घुस जाने से चौका धोया जाता था। मक्खीसे बचने के लिए परदा रखा जाता था। बाल-बच्चोंवाली स्त्रियों का परिहंडा (पानी रखने का स्थान) अलग रहता था। रसोई उस परिहंडे के पानी से बनाई जाती थी, जिसमें ब्राह्मण नहाकर और रेशमी या सणिये की गीली धोती पहनकर पानी भरता था। इसी पानी से बनी रसोई से ठाकुरजी को भोग लगाया जाता था। टोंटी (नल) के पानी का उपयोग नहीं होता था। मंदिर जाते समय रास्ते में अगर उसका छींटा भी लग जाता तो स्नान करना होता था। मंदिर जाते समय ठीकरी, चिन्धी आदि चीजों पर पैर न पड़ जाय, इसका पूरा ध्यान रखा जाता था। उन दिनों बच्चों का मल आदि ठीकरी में ही उठाकर फेंका जाता था व चिन्धी आदि भी, जिनसे बच्चों की टट्टी साफ की जाती थी, बाहर फेंक दी जाती थी। इसलिए उनको छूने से बचाया जाता था। पापड़ केले के झाड़ के रस से बनाये जाते थे। बड़ी (मंगोड़ी) ब्राह्मण ही पीसते और तोड़ते।

घर पर तो शालिग्रामजी की पूजा होती थी और भोग भी चढ़ता था, पर दर्शन-पूजन के लिए मंदिर भी जाना होता था—खासकर एकादशी के दिन जब व्यंकटेशजी, रुक्मिणी और सत्यभामा की स्वर्ण-मंडित मूर्तियों

का दूध-दही से अभिषेक होता था। मुझपर इस अभिषेक का बहुत प्रभाव पड़ता था। मैं भक्ति में गद्गद् होकर देखती रहती। माता-पिता के यहां भगवान की पूजा का जो रिवाज था वही अब भी चल रहा है।

मैं मां के प्रभाव से एकादशी का व्रत रखने लगी और खर्च के लिए मिले पैसे मंदिर में बैठे ब्राह्मणों को एक-एक दो-दो पैसा करके दक्षिणा में दिया करती। एक दिन मैंने शालिग्रामजी की पूजा करनेवाले पुजारीजी से पूछा कि किस नाम का जप करने से भगवान प्रसन्न होते हैं? उन्होंने 'ॐ नमो नारायण' का जप करने के लिए कहा। मैं छत पर जाकर यह जाप किया करती। मैंने सुना था कि माला फेरने या जाप की बात दूसरे को मालूम होने से पुण्य घट जाता है, इसलिए मैं यह जाप चुपचाप ही करती। भला काम चुपचाप करना ही ठीक है—यह संस्कार मुझमें बचपन से ऐसा जम गया कि दूसरे से कहना या प्रचार करना मुझे अच्छा नहीं लगता।

कुटुम्बियों को मदद पहुँचाना या उनकी देखभाल करना पिताजी अपना कर्त्तव्य मानते थे। हमारे कुटुम्ब के एक दूर के भाई हमेशा पिताजी पर मामला-मुकदमा करके उन्हें तकलीफ देते रहते थे। पर पिताजी उनके बालबच्चों को कोई कष्ट न हो, इसका सदा खयाल रखते। बाजार में फल खरीदते तो उसमें से कुछ उनके यहां भेज देते। कहते—"गोपाल तो कमाई करे नही, कोरट-कचेरी करतो फिरे। टाबर के खासी?[1] जा भाई, बीकें छीकें पर रख आ।"

कुटुम्बवालों को निभाना उनका स्वभाव ही बन गया था। हमारे ताऊ के लड़के साथ ही रहते थे। उनके बहुत-से बाल-बच्चे थे। मेरे पिताजी की ग्यारह सन्तानें पहले चल बसी थीं। हम तीनों भाई-बहन बुढ़ापे में हुए थे। पिताजी ही सब-कुछ करते थे। ताऊजी के बाल-बच्चों में से किसी-न-किसी के शादी-ब्याह हुआ ही करते। जब मेरे ब्याह का समय आया तब गांव की औरतों ने आकर मेरी मां से कहा—"दादीजी, जानीबाई को ब्याह आयो है, सो गेणा-कपड़ा कइयां का कराश्यो?" मेरी मां बोली—

---

१. बच्चे क्या खायंगे?

"ज्युं भोरां के हुया बीरयाई इब के हो जासी।" तब वे बोलीं—"बांके तो सावा खरचा होताई रेवे। थारे तो या एक ही है, दादीजी!" तब मेरी मां पिताजी से बोली—"जानकी के तांई गेणो-कपड़ो कांई करास्यो।" पिताजी ने जवाब दिया—"ग्रौरां के हुया जिस्या हो जासी।" तो मां ने कहा—"ग्रौरां के रोज ही हुवे, आपणें तो या एक ही है।" तब वह बोले—"बांको बांके नसीब को लागे। बांको नांव क्यु लेवो, थांने जो कुछ करणो है, सो बता दो।"

इस तरह कुटुम्बवालों में प्रेमभाव बनाए रखने में भेद-भाव को उत्तेजना न मिले, इसका खयाल रखते थे। जैसा प्रसंग ग्राया, काम कर लिया, पर मन में ईर्ष्या न ग्रावे, यह उनका प्रयत्न रहता था। ग्रौर उन्होंने ग्रन्त तक ग्रपने कुटुम्ब को निभाया।

हमारे यहां जो मुनीम, गुमास्ते, नौकर-चाकर थे, उनको पिताजी ने कुटुम्ब का ही बना लिया था। वह उनके सुख-दुःख का खयाल रखते थे। इनमें पंडित-ब्राह्मण ज्यादा रहते थे, पर ग्रौर जाति के लोग भी रहते थे। मुसलमान नौकर भी थे। उनके प्रति ग्रनादर का भाव नहीं था। हां, छूग्राछूत इनके साथ चलती तो वे ध्यान रखकर ही चलते थे, पर उससे न किसीको बुरा मालूम पड़ता था ग्रौर न ग्रात्मीयता में ही कोई कमी होती थी। घर में जो चीज बनती, उन्हें दी जाती। वे पत्तल पर खाने में भी ग्रपमान नहीं समझते थे।

परदे का बहुत कड़ा रिवाज था। पिताजी परदा बहुत मानते थे। एक बार देस *(लक्ष्मणगढ-राजस्थान)* में किसी शादी में हमारे घर की ग्रौरतें हनुमानजी के मंदिर में दर्शन को चली गईं। उनकी निगाह स्त्रियों पर पड़ गई तो बहुत नाराज हुए।

हम लोग जावरे रहते थे। वह मुसलमानी राज था। पर राज में पिताजी का बड़ा मान था। हमारे घर शादी-ब्याह में राज के वरदीवाले बाजे ग्राया करते ग्रौर लक्ष्मणगढ़ में भी हमारे घर के लोगों के साथ जाते। लक्ष्मणगढ मे जब जावरा-राज के वरदीधारी बाजेवाले ग्राते तो लोग उनको देखने उमड़ पड़ते थे।

पिताजी का जीवन सब तरह से ऊँचा ही रहा। व्यापार में उनकी

साख थी और वह जबतक रहे तबतक धन-धान्य से भरे-पूरे रहे। उनका यह स्वभाव-सा हो गया था कि थोड़ा-बहुत मुनाफा मिलता तभी वह माल बेच देते, ज्यादा लोभ में न पड़ते।

उनका अफीम का धन्धा था। खेतों से अफीम के रस के घड़े-के-घड़े भरकर आते। कुछ दिनों रखे रहने के बाद उस रस को बड़ी-बड़ी परातों में मथा जाता और फिर लड्डू जैसे गोले बनाए जाते। इसे अफीम की गोटियाँ कहते थे। कोठों में लाखों की अफीम भरी रहती थी।

कहावत है कि लोभ गला कटता है। पिताजी के बाद घर के लोगों को प्रायः घाटा ही उठाना पड़ा, क्योंकि वे उनकी नीति के अनुसार नहीं चले। थोड़े नफे में सन्तोष माननेवाले को जोखम कम उठानी पड़ती है और वह लाभ में ही रहता है। उनके जीवन में कुटुम्ब की स्थिति सभी दृष्टि से अच्छी रही।

विवाह के बाद जब मैं ससुराल जाने लगी तब पिताजी ने कहा था—"बेटी, तू पराये घर जा रही है। वहाँ अच्छी तरह रहना। ज्यादा न बोलना। कोई चार बार कहे तो एक बार बोलना।"

जैसा उनका जीवन भव्य रहा वैसी ही उनकी मृत्यु भी। जिस दिन उनका स्वर्गवास हुआ, उस दिन सुबह वह मंदिर गये; ग्यारह बजे तक चिट्ठियाँ लिखते रहे। फिर नहाकर धोती पहन रहे थे कि उनको चक्कर आ गया। कमरे में आये और लेट गए। लोग इकट्ठे हो गए। डाक्टरों को बुलाया गया। इन्दौर से भी डाक्टर बुलाये गए, पर कुछ भी फायदा न हुआ। शाम को सात बजे उनका देहान्त हुआ। कहते हैं, उनका प्राण ब्रह्माण्ड में से निकला। सिर ऊपर से फट गया था और खून गिरा। ऐसी मृत्यु किसी योगी या महापुरुष की होती हैं, ऐसा कहा जाता है।

उस समय मेरी आयु दस-ग्यारह साल की थी

: २ :

गोगली गाय

मेरी मां को घर तथा पास-पड़ोस के लोग 'गोगली गाय' कहते थे। 'गोगली' शब्द मारवाड़ी भाषा का है। इसका अर्थ है शांत तथा मधुर। 'गोगल गाय' नामक एक काला जन्तु होता है, जिसके पैर पेट में होते हैं और जो बड़ा मुलायम होता है।

किसी नौकर को कष्ट होगा, यह सोचकर मां प्रायः स्वयं ही काम कर लिया करती थी। किसी काम में हाथ घिरे हों और दियाबत्ती का समय हो जाता तो वह कहती—"अरे भाई, बैठ्यो रे, हाथ तो धोणा ही है, मैं ही दियाबत्ती कर लेस्यूं।" रसोई ऊपर बनती थी और परिंडा नीचे था। इसलिए पानी नीचे से ऊपर ले जाना पड़ता था। यह काम प्रायः नौकर ही करते थे। यदि मां को ऊपर जाना होता तो वह स्वयं ही पानी ले आती और कह देती—"रेणे दे रे, मैं ही ले आस्यूं, मने आणों तो है ही।" नौकर-चाकर को अगर कभी ठोकर लग जाती तो वह उसके पट्टी बांधती, उसे आराम करने को कहती। मुस्लिम रियासत का गांव होने से हमारे यहां मुसलमानों का भी आना-जाना रहता ही था। कई मुसलमान नौकर भी थे। परिवार से सम्बन्धित जो बूढ़े नौकर-चाकर, पंडित-पुरोहित और पास-पड़ोसी थे, उन सबके प्रति मां का बरताव बड़ा प्रेम-भरा और दया-लुता का था। सरदी के मौसम में वह गोंद तथा मेथी के लड्डू बनाकर रखती थी और इन बूढ़ों को रोज दिया करती थी। सुबह पांच बजे बिस्तर पर ही दे आती, और किसी-किसी के घर पर भी पहुंचा देती। मा के इस स्वभाव के कारण कुटुम्बी लोग कहा करते थे—"दादीजी के पास रहे हुए आदमी का दूसरी जगह निभना कठिन है।" नौकरों से तथा चौका-बरतन, माथा-चोटी करने आनेवाली नेवगण (नाइन) तक से वह 'जी' कहकर

बोलती थीं और हम लोगों को भी ऐसा ही बोलना सिखाती थीं।

बिना किसी धर्म या जाति-भेद के वह बीमारों को दवा दिया करती थी। मिट्टी के तेल के आड़े कटे कनस्तर में जंगली जड़ी-बूटियाँ तथा सोंठ, काली मिरच, दालचीनी, लौंग, पीपल, मुलेठी, जायफल, अजवाइन आदि चीजों की छोटी-छोटी कोथलियाँ (थैलियाँ) बनाकर रखती थी। जब किसीकी बीमारी की बात सुनतीं या कोई बुलाने आता तब वह अपने उस कनस्तर से दवा निकालकर देती। लोगों को मां की दवा पर श्रद्धा और विश्वास रहता था।

सीने-पिरोने का तो मां को व्यसन ही था। सिलाई तथा पटवा-काम (जेवर पूँथने के काम) में वह बहुत होशियार थीं। किसीके यहाँ ब्याह-शादी होती, मुकलावा (गौना) होता, जन्म आदि होता तो वह कपड़े सी देती, गोटा-किनारी लगा देती, उनकी चोटियाँ बना देती। लोगों की सिलाई का काम छबड़ी (टोकनी) में पड़ा ही रहता। रात-दिन कुछ-न-कुछ सिलाई चलती ही रहती। यह देखकर कभी-कभी घर के लोग कह देते--"दादीजी, यह सब क्यों करती रहती हो ?" वह कहतीं—"भाई, ईमें म्हारे हाथ को कांई बिगड़े है, सिलाणवाला का चार-आठ आना तो बच जासी।"

इसी तरह तीज-त्योहार पर कोई चीज बनती तो नौकर-चाकरों तथा पास-पड़ोस में पहुंचा आती। कोई अफीम मांगने आता तो अफीम दे देती, अनाज और वस्त्र भी देती रहती। एक प्रकार से वह सबके काम आती थीं।

मां के भोलेपन की एक घटना तो बड़ी मजेदार है। एक बार लक्ष्मणगढ़ से जावरा लौट रहे थे। रास्ते में किसी कुएँ पर खाने के लिए ठहरे, खाना-पीना होने पर मां मेरे बदले दूसरे ही बालक को गोद में उठाकर चल दी। साथवालों ने मुझे अकेला देखकर उठा लिया और मां से जाकर पूछा, "दादीजी, जानीबाई कठह ?" उसने कहा—"या है ना म्हारे कनै," पर इतना कहते-न-कहते वह सकपकाकर बोली, "अरे भाई, मैं कुआं पर ही भूल आई, बा तो कुआं में पड़गी होसी।" और यह कहकर कुएं की ओर चलने लगी। पर साथवालों ने मां की गोद में मुझे दे दिया। उस

समय में कोई २-२॥ वर्ष की रही हूँगी।

जब मैं चार वर्ष की हुई, तब मेरे माता (चेचक) निकल आई। मुझसे एक बड़े भाई थे और एक छोटे। मैं बीच की थी। हम तीनो में दो-ढाई वर्ष का अन्तर था। मेरे माता निकली, उस समय टीका लगाने का रिवाज कम था। बच्चो को दर्द न हो इसलिए माताएँ उन्हें टीका लगवाने से बचाती रहती थी। माता की बीमारी को शीतला माता मानकर पूजने का रिवाज था, जो अब भी चल रहा है। होली के बाद की सप्तमी को माता पूजते हैं। उस दिन राजस्थानी पहले दिन का बना हुआ ठंडा भोजन खाते हैं। मेरे दोनो भाइयो को टीका लगवा दिया गया था। मैं ही न मालूम कैसे बच गई थी, जिससे मुझे लगभग चार महीने तक यह बीमारी भोगनी पड़ी।

मुझे याद है कि माता निकलने पर मुझे गाय के नोहरे (गाय बांधने के स्थान) में बोरी या टाट पर जगली कंडे की राख बिछाकर सुलाया जाता था। गाय के मूत्र, गोबर आदि की गन्ध से चेचक की तेजी शायद कम होती होगी। मा मेरे शरीर पर राख बुरकती रहती थी। मुझे पीड़ा होती थी या नही, यह याद नही पड़ता। पर मां ने मेरी खूब देख-भाल की थी। चार महीने तक वह रात-दिन मेरे पास बैठी रही थी।

मैं पहले ही सांवली थी, फिर इस बीमारी से रंग और गहरा हो गया। चेचक के दाग चेहरे पर उभर आये। शायद इसी कारण मैंने माता-पिता और कुटुम्बवालों का अधिक प्यार पाया। यो भी बहुत-से बच्चों के पहले ही चले जाने के कारण मैं लाड़ली थी, फिर उस बीमारी के कारण मुझे और भी सहानुभूति प्राप्त हुई।

: ३ :

'रूप को तरसै करम की खाय'

मेरी उम्र कोई चारेक साल की थी। माता की बीमारी उठी से ही थी। मुंह पर चेचक के दाग उभर आए थे। पर बीमारी के बाद की सार-सम्हाल से कुछ मोटी हो गई थी। इसी समय वर्धा से मुझे देखने के लिए एक ब्राह्मण आए। उनका नाम मनीरामजी था।

उस समय लड़का-लड़की देखने का काम ब्राह्मण या नाई ही करते थे। नाई तथा ब्राह्मणों पर समाज विश्वास रखता था। वे भी समाज के एक उपयोगी अंग माने जाते थे। इनके साथ पारवारिक रिश्तों का-सा व्यवहार होता था।

मनीरामजी मुझे देखने सेठ बच्छराजजी के यहाँ से आये थे। इसलिए उनका खूब स्वागत किया गया होगा। पिताजी के यहाँ भले ही धन ज्यादा न रहा हो, पर रहन-सहन रईसी और नवाबी था। इस ठाठ-बाट और रहन-सहन का समाज में बहुत प्रभाव था।

मनीरामजी स्वयं बहुत होशियार थे। उन्होंने वर्धा जाकर कहा होगा—"खानदान बहुत अच्छा है, धार्मिक है। लड़की सांवली है, मोटी है, अभी-अभी माता की बीमारी से उठी है, सो मुंह पर चेचक के दाग हैं। पर बड़ी होने पर शायद दाग भर जायेंगे।" वगैरा। इन शब्दों में मेरी प्रशंसा कहाँ थी, पर मनीरामजी ने यह बात कुछ ऐसे ढंग से कही होगी कि बच्छराजजी के परिवार का झुकाव बढ गया। बच्छराजजी की पत्नी सद्दीबाईजी भरेपूरे खानदान और धार्मिक वातावरण की बात सुनकर सम्बन्ध करने को राजी हो गईं। बच्छराजजी के यहाँ सन्तान की औछत थी। एक तो सन्तान होती नहीं थी और गोद लेते तो उसकी अकाल मृत्यु हो जाती थी या वह पागल हो जाता था। मेरी सास (रामधनदास की बाल-विधवा पत्नी)

ने अपनी सास (सद्दीबाईजी) से कहा—"आपणो टाबर गोरो और सोवणो है, तो बहू भी सोवणी ही लाणी चाइजे।"

सद्दीबाईजी ने कहा—"बेटी, आपां सोवणी तो घणी ही हाँ, पर टाबरां ने तो तरसां ही हाँ। थारां भाभीजी (बिरधीचन्दजी पोद्दार की मां) ने ही देखो, वे कठै सोवणा है, पण सात रतन दिया है। आपाणे तो इसी लड़की चायजे जो कुटुम्ब बढावे। रूप में काई पड्यो है।"

उसी समय जमनालालजी के जन्म के पिता कनीरामजी सीकर से वर्धा आ रहे थे। उनको भी जावरा उतरकर लड़की (मुझे) देख आने के लिए वर्धा से लिखा गया था। वह भी जावरा आये और मुझे देख गये।

पहले के लोग रूप की अपेक्षा खानदान को अधिक महत्व देते थे। माता-पिता जो सम्बन्ध कर देते, वही पक्का माना जाता था। कनीरामजी ने अपने लड़के-लड़कियों के सम्बन्ध भी खानदान तथा आदमी देखकर किये थे। इसलिए मेरे लड़के तो कभी-कभी उनसे कहा करते थे—"दादाजी, आपने चुन-चुनकर कैसी जोड़ियाँ मिलाई हैं!" क्योंकि कुछ सयोग ही ऐसा हो गया कि वर्धा और सीकर के कुटुम्ब में आदमी तो सुन्दर और सोवणे थे, लेकिन लड़कियाँ सब मेरे जैसी ही आईं। लेकिन आज तो ऐसे सम्बन्ध होना प्रायः कठिन ही है। प्रत्येक लड़के की इच्छा रहती है कि वह स्वयं भले ही कुरूप हो, पर उसकी पत्नी तो सुन्दरी होनी चाहिए।

माता-पिता तथा भाई-बन्धुओं में भी सगाई के बारे में विचार-विमर्श तो हुआ ही होगा। हमारी धार्मिक मान्यता वर्धावालों से भिन्न थी। जावरावाले वर्धावालों को 'घोग्या' कहते थे। राजस्थान के जो लोग दक्षिण की तरफ आ गये थे और जिनके रहन-सहन तथा खान-पान पर दक्षिण-निवासियों का असर पड़ गया, उन्हें 'घोग्या' कहा जाता था। राजस्थान और मालवा के लोग इनको कुछ हलकी नजर से देखते थे। पर वर्धावाले सम्पन्न थे, लड़का सुन्दर था और इधर मैं सांवली तथा चेचक के दाग-वाली थी। इसलिए उन्होंने सोचा होगा कि भले ही वर्धावाले 'घोग्या' हों, हैं तो धनवान; इसलिए सम्बन्ध तो कर ही लेना चाहिए।

सगाई के बाद बहुत-सा जेवर मेरे लिए वर्धा से आया। गहना ठोस

सोने का था। पर इतने सारे गहनों को देखकर मेरे भाई-बंधुओं ने कहा—"सोनो तो टोकरी भर है, पण ढंग को तो एक भी गेणो कोनी।" मेरे भतीजी के पति मजाक में कहा करते थे—"कढ़ी में काले को छांटो लागग्यो।" पहले-पहल तो मैं इस मजाक को योंही समझती रही, पर बाद में जाकर मालूम हुआ कि सोना तो बहुत आया, पर पहननेवाली बाई तो ऐसी है!

मुझे अपने रूप के कारण किसीसे मिलने में भी संकोच होता था, यहाँतक कि मुझे कांच में भी अपना मुँह देखने में संकोच होता था।

जमनालालजी के महाराष्ट्रीय साथियों को तो अबतक अचरज है कि उन्होंने मेरे साथ विवाह की स्वीकृति कैसे दे दी। महाराष्ट्र में वर-वधू एक-दूसरे को देखकर ही प्रायः स्वीकृति देते हैं, इसलिए उन्हें अचरज होना स्वाभाविक ही था। एक समय, जब जमनालालजी के सेक्रेटरी श्री महादेवलाल सराफ से बजाजवाड़ी में किसीने कहा कि हमें सेठानीजी के दर्शन करने हैं, तब सराफ ने मजाक में कह दिया—"इस घर में जाइए और जो सबसे 'सुन्दर' दिखाई पड़े उसे ही सेठानीजी समझ लीजिए।" श्री महादेवलाल विलायत से नए-नए ही लौटे थे। मैंने उनसे मजाक में कहा—"अभी तो जनाब की आँखें आसमान में हैं। देखना तुम्हारे लिए भी कोई मेरे जैसी ही बहन बैठी होगी!" मैं क्या जानती थी कि मेरी बात सच ही निकलेगी!

जो हो, मेरे लिए तो राजस्थान की यह लोकोक्ति ही चरितार्थ हुई—

रूप की तरसे करम की खाय,
रूप की धराणी पाणी भरवा जाय।

और मुझे 'करम की खानेवाली' बनने में पूज्य सट्टीबाईजी का आशीर्वाद ही समझना चाहिए।

इसे मैं भगवान् का उपकार ही मानती हूँ कि मैं रूपवान होने से बची। सम्पन्न परिवार, जमनालालजी-जैसे सुन्दर पति तथा सब प्रकार की अनुकूलताओं को पाकर भी 'रूप' के कारण मैं अहंकार में डूबने से बची। मुझमें जो सादगी आई, धर्म-ध्यान करने की रुचि बढ़ी, उसमें शायद मेरी कुरूपता भी एक कारण रही हो।

: ४ :

'कागद कीयां बोले ?'

मैं कोई छः-सात बरस की थी। एकदिन पिताजी के हाथ में एक कागद था, जिसे वे मां को पढ़कर सुना रहे थे। कागद लम्बा था और चौड़ा कम। पहले ऐसी ही चिट्ठियां लिखी जाती थीं। 'चिट्ठी' के लिए 'कागद' शब्द का ही इस्तेमाल होता था। पिताजी कह रहे थे कि कनीराम ने यह लिखा है, वह लिखा है। मुझे यह देखकर अचरज हुआ। मैं रह-रहकर कभी पिताजी की तरफ और कभी मां की तरफ देखती। मैं विचार में पड़ गई कि यह कागद कैसे बोलता है। मेरा अचरज बढ़ता ही गया। मेरे लिए यह नई बात थी। मैंने मन-ही-मन सोचा कि मैं भी सीखूंगी कि कागद कैसे बोलता है।

दूसरे दिन पट्टी-कलम लेकर मैं जोशीजी के यहां पहुंची। देस में पढानेवालों को जोशीजी कहते थे। मैंने उनसे कहा कि "कागद कीयां बोलै सो मनै बताओ।" (कागज कैसे बोलता है, यह मुझे बताओ।) वे मेरी समस्या को समझ गए और क ख ग घ ङ, ये पांच अक्षर पट्टी पर लिखकर दे दिए और कहा कि इसको घोखना। मुझे मानो मनमांगी चीज मिल गई। मैं तो अपनी बाल-बुद्धि के अनुसार यही समझती थी कि कागद में भगवान बोलते हैं। जोशीजी के लिखे अक्षरों को मैं मन लगाकर घोखने लगी।

जोशीजी के यहां से अक्षरों को लेकर जब मैं घर लौटी, दूकान के चौतरे पर पिताजी ने मेरे हाथ में पट्टी-कलम देखकर कहा—"बेटाजी, आज कठे गया था पाटी-कलम लेकर ?" मैंने हलके-हलके हँसकर पट्टी के अक्षर बता दिये। मुझे तो अक्षर घोखने की ही धुन थी। मैं मन-ही-मन सोचने लगी कि मैं जो काकाजी बोलती हूं, उसका 'क' यही है।

पिताजी मेरा उत्साह देखकर मां से बोले—"एजी, अब तो बाई के ताईं जोशीजी राखनं पड़सी।" और उन्होंने मेरी पढ़ाई की व्यवस्था कर दी। धीरे-धीरे मैं बारह-खड़ी सीख गई और थोड़ा-बहुत टूटा-फूटा पढ़ने भी लगी।

मैं मां के साथ मंदिर तो जाती ही थी। पूजा-पाठ, कथावाचन में भी उनके साथ रहती थी। पंडितजी से मैंने विष्णु-सहस्रनाम सीखना शुरू कर दिया। अर्थ तो क्या समझती पर टूटे-फूटे उच्चारणों में पाठ करना शुरू कर दिया। सहस्रनाम सीखने पर तो मानो मुझे भगवान् मिल गए। भगवान् के एक हजार नाम लेना मेरे लिए कोई छोटी बात थोड़े ही थी! मैं सुबह-शाम सहस्रनाम का पाठ करके भोजन करने में धर्म मानती।

तेरह-चौदह वर्ष की उम्र में मुझे थोड़ा-थोड़ा पढ़ना आ गया था। उससे मुझे बड़ा लाभ हुआ। मुझे यह भी लगा हर स्त्री को पढ़ना आना चाहिए। ससुराल में मैंने अपनी ननद और देवरानियों को पढ़ाना शुरू किया। गांव की और लड़कियां भी पढ़ने को मेरे पास आने लगीं। हमारे यहां 'हंतकार'[1] लेने के लिए जो ब्राह्मणकन्या आती थी, उसे मैं अक्षर-ज्ञान कराने लगी और साथ ही सीना-पिरोना भी सिखाने लगी। उसकी देखादेखी दूसरी लड़कियां भी आने लगी थीं।

आज जब मैं उस समय की अपनी पढाई का, भावना का और दूसरों को पढ़ाने का विचार करती हूं तब मुझे हर्ष भी होता है और हंसी भी आती है। हर्ष तो इसलिए कि चालीस-पचास वर्ष पहले, जब स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में कोई खास झुकाव नहीं था तब मैं थोड़ा-बहुत पढ़-पढ़ा सकी और हंसी इसलिए आती है कि मेरा अक्षर-ज्ञान टूटा-फूटा, फिर भी मैं पढ़ाने लगी।

मेरे माता-पिता नये घर में रहने गये थे। वहां कोठे (कमरे) में

---

१. चौके में जो रसोई बनती है, उसमें से एक व्यक्ति का भोजन ब्राह्मण को दिया जाता है, उसे 'हंतकार' कहते हैं। आजकल तो यह प्रथा बन्द-सी हो गई है।

मुझे एक मंडारिया दिया गया। मंडारिया दीवार में लगी छोटी-सी आलमारी को कहते हैं। वह खेल-खिलौने रखने के लिए था। मेरी इच्छा उसमें भगवान् का चित्र लगाने की थी। इसलिए मैंने उसमें एक कील ठोंकी। मां ने मुझे देख लिया, उसने अत्यन्त करुण मुद्रा में मुझसे कहा—"ए बाई, यो खीलो क्यूँ ठोक्यो, चूना की भीत में खरट उतर जासी न।" ये शब्द इतने करुण स्वर से कहे कि मेरे हृदय पर अंकित हो गए। मैं समझने लगी कि दीवार और लकड़ी को भी दुःख होता है। तबसे कहीं भी किसी को कील ठोकते देखती तो मुझे ऐसा लगता, मानो मेरी छाती में कील ठोकी जा रही है। आज भी ऐसा ही लगता है।

: ५ :

मेरा विवाह

वर्धा से विवाह के लिए पत्र आने लगे। इस समय मैं कोई साढ़े आठ वर्ष की थी। वर्धा वालों का कहना था कि उनके परिवार में यह एक ही विवाह है और इसके लिए जमनालालजी की विधवा मां का, घर में अकेली होने के कारण, विशेष आग्रह था। पिताजी और माताजी में भी चर्चा हुई। पिताजी सरल स्वभाव के थे और सबका मन रखते थे। उन्होंने मा से कहा—"बाई तो छोटी है, पण काई करां, एक तो वर्धावालां को आग्रह है और सास्तर में भी तो 'अष्टवर्षा भवेत् गौरी' लिख्यो है।"

पिताजी ने वर्धावालों की बात मान ली।

विवाह का निश्चय होने पर हम सब लोग वर्धा आ गए। घर के लोगों के सिवा नाई, ब्राह्मण, नौकर-चाकर आदि सब मिलाकर अन्दाजन पचास आदमी होंगे। वर्धा में जाजोदिया कुटुम्ब के श्री दत्तूरामजी रहते थे। दत्तूरामजी का बच्छराजजी के यहां आना-जाना था। हम लोगों की सारी व्यवस्था एक प्रकार से दत्तूरामजी ने ही की थी।

भारतीयों में विवाह के समय पीठी या हलदी लगाने की प्रथा है। विवाह के पहले नाइन पीठी लगाती है। शरीर पर बेसन, तेल, हलदी आदि का उबटन लगाने को पीठी कहते हैं। इससे शरीर मुलायम होता, मैल छूटता और कान्ति आती है। ऐसी पीठी कई बार लगाई जाती है।

वर की गोद भरने का भी रिवाज है। विवाह के पहले जमनालालजी की गोद भरी गई थी। इस दस्तूर के लिए वह अपने साथियों के साथ मंडप में आये थे। उनके हमारे यहां आने पर औरतों या बहू-बेटियों में बात होने लगी—"बींद तो भोत सोवणो है, जाणे गुलाब को फूल।"

शायद मुझसे भी किसीने कहा। मेरी भी इच्छा उनको देखने की हो गई। उस समय किवाड़ एकदम कसे नहीं होते थे। कुछ ढीले होते थे। मुझे याद पड़ता है कि उसी समय मैंने किवाड़ में से उनको एक नजर में देख लिया था। उनकी गोद भरी गई। उसमें फल, नकद आदि के अलावा पाँचों कपड़े भी थे। कोट-टोपी की मखमल पर सलमे-सितारे का काम था। उस समय समाज में मखमल तथा जरी के कपड़ों का रिवाज था। चाँदी के खिलौने भी थे।

विवाह के समय बींद हाथी पर बैठकर तोरण मारने आए थे। हौदे पर वर के साथ उनके पिता तथा दो भाई बैठे थे। लोगों ने कहा कि चारों जने भाई-से ही दीखते हैं। रात के लगन थे। मुझे फेरे के लिए नींद में ही कपड़े पहनाकर पाटे पर लाकर बैठा दिया गया था।

फेरे के समय कन्या को बिना धुला कोरा सफेद कपड़ा तथा कच्चे सूत की मोली से सीकर लहँगा तथा चादर ओढा दिया जाता था और उसपर सवा गज के कसूंबल कपड़े से घूंघट निकाला जाता था। जेवर या जरी के कपड़े आदि फेरे के बाद पहनाए जाते थे। फेरे के समय कन्या के कान में एकाध माशा सोने की नली और बाएँ हाथ में चार-छः माशा चाँदी की पतरी दोनों तरफ छेद करके कच्चे सूत से बांध दी जाती थी। पाणिग्रहण-संस्कार कैसे हुआ, इससे मैं बेखबर ही रही। आठ-नौ बरस की उमर की मैं क्या जानती कि फेरे क्या होते हैं।

विवाह खूब ठाठ-बाट से हुआ। वर-पक्ष की ओर महफिल सजाई गई। नाचने-गाने वाली भगतणें भी बुलाई गई थी। बच्छराजजी के वंश में यह विवाह महत्वपूर्ण था। उन्होंने अपने पोते के विवाह में दिल खोलकर खर्च किया। आतिशबाजी भी खूब छोड़ी गई।

फेरे के बाद मुझे प्रथा के अनुसार सारे जेवर पहनाये गए। विवाह घूंघट में ही हुआ था। यह आज से पचास वर्ष पहले की बात है। उस समय की अपनी स्थिति तथा आज की सामाजिक स्थिति पर विचार करती हूँ तो दो विरोधी चित्र मेरी आँखों के सामने खड़े हो जाते हैं। आज जिन प्रथाओं को हम कुरीतियाँ कहते हैं, उस समय वे रिवाज अच्छे समझे जाते थे।

विवाह के बाद वधू के आने पर 'रतजगा' की प्रथा थी, जिसमें रात-भर देवी-देवताओं के गीत गाये जाते थे। वर-वधू से देवी-देवता की धोक दिलाई जाती थी। उसी समय वधू की मुँह-दिखाई होती थी। हम दोनों को एक कमरे में बन्द कर दिया गया। स्त्रियाँ किवाड़ों की चीर में से देखती रहीं। नेग के लिए पांच-सौ रुपए की थैली रख दी गई थी और जमनालालजी से कहा गया था कि मुंह देखकर रुपया दे देना। वह कमरे में चुपचाप बैठे रहे। उन्होंने एक रुपया उसमें से बजाकर थैली में वापस डाल दिया। जब बाहर की स्त्रियों ने देखा कि दोनों बिलकुल चुपचाप बैठे हैं, तब दरवाजा खोल दिया। मैं स्वयं तो नासमझ थी ही, पर वे भी शरम की मूर्ति ही थे।

एक बात का अफसोस मुझे आज भी रह-रहकर होता है; वह यह कि पूज्य सद्दीबाईजी मेरे विवाह के दो साल पहले ही इस संसार से विदा हो चुकी थीं। उनके आशीर्वाद से मेरी सगाई उनके पोते के साथ हुई थी और वह चाहती थीं कि पोते की बहू का मुँह तो देख लें। पर मैं उनके पैर पकड़कर आशीर्वाद नहीं ले सकी।

: ६ :

विवाह कैसे छूटे ?

विवाह के बाद में माता-पिता के साथ जावरा गई। पर जल्दी ही वर्धा से पत्र आने लगे कि बीनणी (बहू) को भेजो। बच्छराजजी के यहां गनगौर पूजी जाती थी। उनके यहां कोई लड़की नहीं थी, इसलिए गांव की दस-पद्रह लड़कियों को बुलाकर पद्रह रोज तक गणगौर पूजी जाती थी। चैत सुदी तीज के दिन गणगौर यानी शिव-पार्वती की मूर्त्तियों को सजाकर जलूस निकाला जाता है। वर्धा में बड़ा घर होने से हमारे यहां से गणगौर निकाली जाती थी। विवाह के बाद पहले वर्ष गणगौर की पूजा वधू को करनी पड़ती है। जमनालाल-जी की मां की यह स्वाभाविक ही इच्छा थी कि इसके लिए बहू को बुलाएँ। मेरे माता-पिता तो एकेश्वरवादी थे। वे विचार में पड़ गए कि "आपां तो एक भगवान का उपासक हां, उठे तो बाई नै गौरगौर्यां पूजनी पड़सी।" पर बच्छराजजी की इच्छा का खयाल कर पिताजी ने मुझे वर्धा भेज दिया। मेरे साथ एक नेवगण आई थी। उसके शरीर पर भी बहुत सारे गहने थे। फरक इतना ही था कि मैं सोने के गहने पहने थी और वह चांदी के।

ससुराल में मेरा यह पहला आगमन था। मुझपर माता-पिता के धार्मिक संस्कार की छाप थी। मैंने जब यहां देखा कि टोंटी का पानी पिया जाता है, तब मुझे बहुत खेद हुआ। वहां तो टोंटी के पानी का छींटा लगने से स्नान करना पड़ता था और यहां उसे पीते थे। पानी भरने वाला जाट था। पहले तो मैं उसे कोई ब्राह्मण ही समझी, पर बाद में पता चला कि वह तो जाट है तो मुझपर तो मानो घड़ों पानी पड़ गया। यहां तो धर्म ही डूब गया। मैंने मन-ही-मन सोचा कि मां के पास जाकर

पंचगव्य लूँगी और फिर टोंटी का पानी कभी नहीं पिऊँगी ।

यहाँ का खान-पान भी जाजोदियों-जैसा स्वादिष्ट नहीं था । खान-पान में तुअर की दाल तो मुझे भाती थी, बाकी खाते समय जावरा की याद आती रहती थी ।

जावरा में तो मैं खुली थी, आजाद थी, इधर-उधर खेलती-कूदती रहती थी, पर यहाँ तो घूंघट में बैठी रहती । मुझे ऐसा लगता था कि मैं एक जेल में छोड़ दी गई हूँ । पिताजी ने तो मुझे बच्छराजजी के आग्रह पर गणगौर पूजा के लिए पंद्रह रोज के लिए भेजा था । पर फिर तारा लग जाने से ढाई महीने तक नहीं भेजा जा सकता, ऐसा बच्छराजजी ने पिताजी को लिख दिया । अब तो मुझे वर्धा में पल-पल भारी लगने लगा । मैं सोचने लगी—"हे भगवान, मेरा ब्याह कैसे छूटे ?" मैं मन मार-कर रहने लगी । मन में रोना आता था, पर आँखों पर आँसू नहीं आने देती थी । अगर किसीको मालूम हो गया तो कैसे बताऊंगी कि मैं क्यों रोती हूँ । मैं नौ-दस वर्ष की बच्ची क्या जानूं कि विवाह कैसे छूटता है या नहीं छूटता ? मैं तो यही प्रार्थना करती कि किसी तरह मेरा ब्याह छूट जाय । 'ब्याह कैसे छूटे' उस समय के ये शब्द भी कितने विकारहीन थे। और इसलिए मैं संतोष कर लेती हूँ कि सरलता या विकार-हीनता में निकला हुआ कोई वचन विपरीत परिणाम नहीं लाता, जबकि आज मैं समझती हूँ कि किसी समझदार भारतीय नारी के मुँह से ऐसे शब्द निकलना कितना......

लेकिन इन्हीं दिनों एक घटना हो गई । जमनालालजी की उमर कोई तेरह वर्ष की होगी, फिर भी उनकी माँ के मन में लाड-प्यार और नेग-दस्तूर करने की इच्छा रहती ही थी। मारवाड़ी-समाज में यह एक रिवाज था कि विवाह के बाद वर-वधू को एक स्थान पर सुलाया जाय। इसमें उमर का विशेष खयाल नहीं किया जाता था। जमनालालजी अपने दादा बच्छराजजी के साथ ही सोते थे । बुढ़ापे में प्यार विशेष रहता है । जमनालालजी गोद के लड़के थे, सुन्दर थे, इसलिए उनपर बच्छराजजी का प्यार रहना स्वाभाविक था ।

एक दिन जमनालालजी की माताजी ने नौकर से कहकर हम दोनों

को एक कमरे में सुलाने का विचार किया। मुझे उस कमरे में सोने के लिए भेज दिया गया। मैं बच्ची हो तो थी। जाते ही सो गई। मेरे पास नेवगण बैठी रहीं। जमनालालजी सदा की भाँति अपने दादा के साथ सोए थे। उनकी माँ मन-ही-मन अधीर और बेचैन हो रही थी। वह जमनालालजी को किसी तरह बुलाना चाहती थी। पर उनकी हिम्मत नहीं हो रही थी। अन्त में उन्होंने अपने नौकर से कहा—"अरे खेता, जमन नें बुला।" वे आए। उनके मेरे कमरे में आते ही नेवगण बाहर निकल गई और बाहर से कुन्दा लगा दिया गया।

मैं तो भर नींद में थी। उन्होंने शायद मेरे पैर में चिकोटी काटी। यह बात तो उन्होंने किसीके सिखाने से ही की होगी, क्योंकि वह स्वयं तो बहुत लजीले थे। मैं जागी और चौंक पड़ी। मैंने जमनालालजी को विवाह से पहले किवाड़ की आड़ से ही एक बार देखा था। मैं घबराई कि यह कौन बालकटी (लड़की) मेरे साथ सोई है—नेवगण मुझे दिखाई न दी। मैं भी चुप और वह भी चुप। मैं उठी और जोर-जोर से किवाड़ खटखटाने लगी। आवाज बच्छराजजी तक पहुँची और उन्होंने जमनालालजी को पास न देखकर समझ लिया कि हो-न-हो यह सब उनकी माँ ने करवाया होगा। वे गुस्से होकर गालियाँ बकने लगे। बोले—"छोरी नै दु:ख देवा के तांई बुलाई है ?" डर के मारे सास ने किवाड़ खोल दिये और नेवगण भीतर आ गई। इसके बाद जितने दिनों तक मैं ससुराल रही, ऐसी कोई बात न होने पाई।

कुछ दिनों बाद होली आई। होली के दूसरे दिन को 'छारंडी' कहते हैं। उस दिन रंग खेला जाता है। नए वर-वधू को भी आपस में रंग खेलने के लिए कहा जाता है। यह एक मौज-शौक का दिन होता है। मेरी सासूजी हम दोनों का रंग खेलना देखना चाहती थीं। उन्होंने रंग के बरतन भराकर रख दिये। हम दोनों को बुलवाया। जमनालालजी के हाथ में पिचकारी दी गई और मेरे हाथ में गिलास। हम दोनों आमने-सामने कोई आठ-दस गज की दूरी पर खड़े थे। दोनों में से कोई रंग न उछालता था। दोनों चुपचाप पत्थर की मूर्ति की तरह खड़े रहे। सासूजी हम दोनों से बार-बार कहती, पर हम तो जैसे चेतना-शून्य हो

गये थे। सासूजी जमनालालजी से कहती—"अरे, एक पिचकारी तो छोड़ दे।" और मुझसे कहतीं—"तू ही एक गिलास उछालकर शगुन करदे।" पर मेरी स्थिति तो ऐसी थी, मानो फाँसी के तख्ते पर लटके हुए आदमी से लड्डू खाने के लिए आग्रह करना। सासूजी की आज्ञा के बिना हम दोनों का वहाँ से हट सकना भी कठिन था और शरम इतनी थी कि कोई किसीपर रंग उछालता न था।

: ७ :

सास की मृत्यु

ढाई महीने ससुराल रहकर भाई के साथ में जावरा लौट आई। भाई से जाते समय ससुरालवालों ने जल्दी भेजने के लिए कह दिया था। इधर मैं जावरा पहुँची और उधर फिर पत्र आने शुरू हो गए कि बीनणी को लेने के लिए आदमी भेजते हैं। इससे घरभर में चर्चा शुरू हो गई कि 'बाई ने छोड़े तो कोनी, बाइ नै लेणै ताई' आदमी आ जासी। दादी सुसरा बूढा है, सो बोले है कि मैं मर जाऊँ तो म्हारे हाथ कियाँ लागै। घर में सासु बालविधवा एकेली है। घर में देखण नै काई है?' ऐसी चर्चा सुनकर मैं तो सुन्न रह जाती। मुझे कुछ भी सूझ न पड़ता था कि क्या बोलूँ। मेरी हालत वैसी ही थी, जैसे जेल से छूटे हुए उस कैदी की होती है, जिसके हाथ में नया वारण्ट होता है। छूटने का आनन्द तो उसे होता है, पर वारण्ट देखकर जी धक्-धक् भी करने लगता है। मैंने सोचा कि जानकी-मंगल और मोरध्वज की कथा सीख लेनी चाहिए, सासरे में कौन सिखायगा। विष्णु-सहस्रनाम भी एक-एक श्लोक कागज पर लिखकर शुद्ध पाठ करने की कोशिश करने लगी। श्लोकवाले कागज के टुकड़े को गोज्या (जेब) में रखती। मन्दिर जाते समय रास्ते में उसे देखती और फिर गोज्या में रख लेती, यहाँतक कि पाखाने में भी घोखती रहती। मेरे मन में यही डर बना रहता था कि कौन जाने कब ससुराल चला जाना पड़ेगा, इसलिए जितना हो सके सीख लूँ। माँ भी कहती कि 'टावर बठै कुणस्यं बोलसी?' टांका (सीना-पिरोना) तथा कलावत्तू काढ़ने आदि सीखने का भी मुझे बड़ा शौक था। एक दिन मैं घर से कपड़ों की कुछ कतरनें पड़ो-सिन के यहाँ ले गई। उससे एक गुड़िया की अंगी और कुरता सिलवाकर खुशी-खुशी घर आई। माँ देखकर बोली—"बाई, टांको तो मैं घणो ही

सिखा देस्यूं, सीखसी तो।" मुझे कपड़ों पर, हाथ पर मेहंदी से या दीवार पर मोर मांडने का बडा चाव रहा है। अब भी जहां मोर के पंख देखती हूँ, उन्हें बटोर लेती हूँ। यह काम करते समय भी मुंह से घोखना चलता ही रहता। रसोई के बारे में मां कहती रहती—"रसोई भी लुगाई ने सीखणी तो चाये, पण एक तो छोटी है, दूसरां आपणे अठै बिरामण (ब्राह्मण) पड़दे में रसोई करै, छुआछूत चालै नहीं और बठैसी रसोई करणें ने रसोइया तो है।" दोनों जगह रसोइया होने से मुझे रसोई सीखने का मौका ही नहीं आया। इस काम में मैं कच्ची ही रह गई। चूल्हा जलाने, बरतन मलने और झाड़ू लगाने से मुझे परहेज-सा ही रहा।

अन्त में ससुराल से मुझे लेने के वास्ते मां ही गए। मैं सोई हुई थी। मां मेरे पास आकर सो गई और प्यार से हाथ फेरते हुए कहने लगी—"जानी, तने लेणेवाला तो आगा।" मैंने सुन तो लिया, पर न आँख खोली और न कुछ बोली मानो मैं तो निर्जीव पत्थर की मूर्ति बन गई थी। मेरा जी भीतर-ही-भीतर घुटने लगा।

मां मेरी विदाई की तैयारी करने लगीं। सिर धुलाया गया माथा गूंथा गया और मेंहदी लगाई गई। मारवाड़ियों में माथा गूंथने का रिवाज था। एकबार माथा गूंथ देने पर आठ-दस दिन तक उसे खोला नहीं जाता था। बालों में मेण लगाकर मीढ़ियां बनाई जातीं और सोने का बोर बांधा जाता था। पीछे तीन फुट की ऊन की आंटी रहती थी। दूसरी स्त्री की सहायता के बिना माथा गूंथा नहीं जाता। माथा प्रायः नैवगणे ही गूंथती थी। धीरे-धीरे यह प्रथा कम होती जा रही है।

घर की स्त्रियां चर्चा करती—"राधा तो बिचारी विधवा होगी। मा तो अठै ही पड़ी रेवै। बीनैं कुण बुलावै।" ये शब्द मेरे मन में ठस गए। बचपन में मां की ओर आकर्षण होता ही है। ससुराल मुझे जेल-जैसा लगता था। मैं मां के निकट रहना चाहती थी। मैंने देखा कि राधा विधवा होने से यहीं रहती है। मैं भी विधवा होती तो मां के पास रह सकती थी। पर विधवा होना मेरे हाथ में थोड़ा था! उस समय मां के पास रहने का आनन्द ही मैं जानती थी। विधवापन किसको कहते हैं, इसे मैं थोड़े ही जानती थी?

दुबारा ससुराल आने पर सासूजी मेरे बड़े लाड़-चाव करने लगीं। मेरे लिए वह तरह-तरह के गहने बनवातीं, बम्बई से मोती तथा कपड़े मँगवाती। गोटा-किनारी भी खरीदती। वर्धा से जो भी आदमी बम्बई जाता वह बच्छराजजी से मिलकर ही जाता, उसके साथ सामान मंगाने की फेहरिस्त जाती। मां से मैंने थोड़ा-बहुत सीना-टोवना सीख लिया था, इससे सासूजी बहुत खुश रहती। दस बरस की बहू सीना-टोवना जाने, यह सासूजी के लिए खुशी की बात थी।

उसी समय वर्धा में प्लेग फैल गया। बच्छराजजी सपरिवार अपने बगीचे में रहने के लिए चले गए। आज जहाँ मगनवाड़ी है, वहीं उनका बगीचा था। वहाँ कई झोंपड़ियाँ खड़ी की गईं और गाँव के जान-पहचानवाले और सम्बन्धित लोगों को भी रहने के लिए बुला लिया गया। बगीचे में जाने के तीसरे दिन ही सासूजी को प्लेग हो गया और वह चल बसीं।

अब क्या किया जाय? बच्छराजजी गाँव के मुखिया थे। दूरदर्शी और व्यावहारिक थे। जिन लोगों को उन्होंने बगीचे में रहने बुलाया था, उन्हें हटाना तो अच्छा नहीं लगा, इसलिए खुद वहाँ से हमको लेकर पुलगाँव चले गए। वहाँ उनकी दूकान थी।

मैं दस बरस की बच्ची ही थी! मेरा मन यहाँ क्या लगता! और, अब तो सासूजी भी चल बसी। रह-रहकर मुझे माँ की और ज्यादा याद आने लगी। इधर जो स्त्रियां बैठने—शोक प्रकट करने—आती, वे मुझसे कहतीं—"पल्लो लिया कर", "सासूजी-सासूजी कहकर रोजे।" मारवाड़ी समाज में पल्ला लेने की प्रथा है। मौत के बाद दस-बारह दिन तक और बाद में भी जब कोई स्त्री-पुरुष 'बैठने' आते हैं, तब घर की स्त्रियां मरे हुए का नाम लेकर रोती हैं। न रोने पर टीका-टिप्पणी भी होती है। इन दिनों घर की औरतें गोटा-किनारी के तथा नये कपड़े नहीं पहन सकती, बैठने आनेवाली स्त्रियाँ भी सादे वस्त्र पहनकर आती हैं। इस रोने की बात से मेरा मन और दुखी हो गया। परिवार की महिलाएँ बार-बार कहती कि 'पल्लो ले'। मेरे मन में जो दुःख था, उसे मैं रोकर कैसे प्रकट करती? मैं दस बरस की बच्ची क्या जानूँ कि रिवाज का रोना क्या

होता है ! मैं तो यह सोचने लगी कि किसी तरह मां के पास पहुँच जाऊँ तो सब दुःख दूर हो जायं।

इधर मेरे पैर में नारू (एक प्रकार का फोड़ा) निकल आया। तकलीफ बढ़ने लगी। मेरे पीहरवाले चिन्ता में पड़ गए कि मेरा अकेली का वहां मन कैसे लगता होगा ? वर्धा में मेरे पास दूसरी कौन है, जो मुझे धीरज दे, मुझपर प्रेम प्रकट करे ! वे मुझे बुलाना चाहते थे। मेरे भाई मुझे लिवाने आये। पर बच्छराजजी मुझे भेजना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा—"साहाजी, सब बात करणां, पर छोकरी ने लेजाणें की बात नहीं करणां।" और दो-चार गालियां भी सुना दीं। बोले—"मैं गोद क्यों लाया ? मैं मरूंगा, तब बेटा-बहू का हाथ लगना ही चाहिए।" बच्छराजजी के इस तरह के दो-टूक जवाब से भाई निराश हो गए। पहले तो बच्छराजजी ने मेरे भाई को खूब गालियां सुना दीं, फिर राजी भी कर लिया। बोले—"साजी, मेरी गाली तो घी की नाली है।" पर भाई को चैन कहां ? वह तो यही सोच रहे थे कि बहन को कैसे ले जाऊँ। लेकिन बच्छराजजी के सामने उनकी एक न चली और वह लौट गए।

नारू के निकलने से मेरा पैर सूज गया। उसमें चटखे चलने लगे। बच्छराजजी बम्बई से डाक्टर बुलाना चाहते थे। वे भी बहुत चिन्तित थे। मेरी यह हालत हो गई थी कि नौकर गोदी में उठाकर पाखाने के पास बिठा जाते थे। इस हालत में भी मैं मां के पास जाने को तड़पती रहती। पीड़ा में पीहर की याद और भी तीव्र हो उठती थी।

मैं मन-ही-मन रोती रहती। रोटी भी नहीं भाती थी। पर अपना दुःख प्रकट करने की अकल भी मुझमें कहां थी ! जमनालालजी इतने कोमल थे कि अगर उनको मालूम होता कि मैं दुःखी हूँ तो मुझे पीहर भेज भी देते। पर मैं क्या जानूं कि उनको कैसे कहा जाय, और यह भी पता नहीं था कि उनको कहने से भी कुछ हो सकता है या नहीं ?

प्लेग खतम होने जाने पर हम लोग वापस वर्धा आ गए और प्रेस में रहने लगे। परिवार की एक महिला मेरे पास आकर तरह-तरह की बातें बनाने लगी। वह कहती—"घर में सासूजी की मौत हुई है तो बारह महीने तक ब्राह्मणों को जिमाना चाहिए।" एक वर्ष पूरा होने पर उस महिला

ने उस ब्राह्मणी को कुछ कपड़े दिलवा दिये। मैं समझती थी कि ऐसा करना धर्म की दृष्टि से आवश्यक होता है। उस समय घर का सारा इन्तजाम मेरे छोटे होने के कारण बच्छराजजी ही करते थे। इसलिए मेरे पास तो मेरे ब्याह के समय के माँ के दिये हुए पहनने के कपड़े ही थे। मैंने वे बता दिये और उन्हींमें से उसने एक रेशम और गोटे के घाघरे का वेस निकाला और एक सूती। रेशमी वेस घरके जोशीजी [1] को दिलवा दिया और सूती ब्राह्मणी को।

यह बात बच्छराजजी को मालूम हो गई। उन्होंने उस महिला को खूब गालियाँ सुनाईं और कहा कि औरतें आ-आकर छोरी (बहू) को ठगकर ले जाती हैं। इसलिए पीछे का दरवाजा बन्द करवा दिया। उन्होंने यहाँतक कहा कि उस औरत को मैं गाँव के बाहर निकाल दूँगा। बच्छराजजी को पता लग गया, यह मालूम होते ही उस महिला के होश-हवास उड़ गए और उसे अपने पति का भी डर लगने लगा। वह दौड़ती हुई मेरे पास आई और मुझे ही डाँटने लगी—"मैंने कब कहा था कि वेस जोशीजी को दे। तूने ही दिया।" मैं तो एकदम सिटपिटा गई। उसने ये बातें अपने बचाव के लिए कही थीं, पर नौकरानी ने झट कहा—"थेई तो कपड़ा दिराया और थे ही लडो हो, या टाबर के समझे?"

अब मैं अपना नित्य कर्म—जैसे पूजा-पाठ सहस्रनाम का पाठ आदि—करती और आराम से रहती। कुछ दिनों तक मैं नौकरानियों तथा हतकार के लिए आनेवाली लड़कियों के साथ ताश भी खेलती रही। फिर भी इसमें मेरा मन नहीं लगता था। ताश खेलना बन्द कर दिया। मुझे तो सीने-टोबने में ही आनन्द आता था। पूजा-पाठ में भी समय अच्छी तरह कट जाता था। सिलाई का सामान माँ भेज दिया करती थी। गाँव की स्त्रियाँ भी मेरे पास कुछ काम दे जाती थीं। छावड़ी में यह सब सामान पड़ा रहता। इससे मेरा समय भी कट जाता और सिलाई में भी सफाई आने लगी।

---

१. राजस्थानी समाज में हर कुटुम्ब के ब्राह्मण, नाई आदि आत्मीय जैसे होते हैं। इनमें से जो ब्राह्मण-कुटुम्ब हमारे घर का था उन्हें घर के लोग जोशीजी कहते थे।

: ८ :

'एक दिन मरना अवश्य है'

जमनालालजी पांच वर्ष की उम्र में गोद आये थे। उन्हें यहां दादीजी का बहुत प्यार मिला। वह वृद्धा थीं और गोद लिया हुआ जवान बेटा शादी के बाद ही चला गया था, इसलिए जमनालालजी को उनका प्यार करना स्वाभाविक ही था। सद्दीबाईजी स्वयं बहुत सरल स्वभाव की, और धार्मिक वृत्ति की थीं। उनके यहां साधु-सन्तों की पंगतें सदा लगती रहती थीं। जमनालालजी भी आनेवाले साधुओं से मनुष्य-जीवन की सार्थकता आदि के बारे में प्रश्न पूछते और सुनते रहते। दैवयोग की बात कि उनके ग्यारह वर्ष के होते-न-होते दादीजी का स्वर्गवास हो गया। इससे वह अनमने-से रहने लगे।

उनकी विधवा मां (रामधनजी की पत्नी) भी उनसे बहुत प्यार करती थीं। उनके लिए विवाह के तुरन्त बाद ही पति की मृत्यु हो जाने से और दादी के भी चल बसने से जमनालालजी ही प्रेम के अवलम्ब रह गये थे। उनका लाड़-चाव, खिलाना-पहनाना वह करती थीं। पर दादी-जैसी प्रौढ़ता इनमें कैसे आ सकती थी? आदमी ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, त्यों-त्यों प्यार की गहराई बढ़ती जाती है, इसलिए कहते हैं कि 'बालक-बूढ़े एक समान'। फिर भी विधवा मां ने जमनालालजी का जी बहलाने में कोई कमी नहीं रखी। दो वर्ष बाद हमारा विवाह हो गया। विवाह में खूब लाड़-प्यार किया गया। पर दुर्भाग्य से विवाह के दस महीने बाद ही इन मां का भी देहान्त हो गया। इससे भी जमनालालजी के मन पर बड़ा असर हुआ।

विवाह के अवसर पर जमनालालजी के जन्म के पिता कनीरामजी सपरिवार मारवाड़ से आये थे। उनके तीन पुत्र थे। पहले, माधवलालजी तो उनके साथ ही रहने और बच्छराजजी के पास काम सीखने वर्धा आये

थे। दूसरे जमनालालजी गोद आ चुके थे। तीसरे बद्रीप्रसादजी थे जो विवाह के समय उनके साथ आये थे। पर दैव की लीला को किसने जाना है! उन्हें मियादी बुखार हुआ और नौ दिन के बाद ही बद्रीप्रसादजी चल बसे। उनकी उम्र ग्यारह वर्ष की थी। विवाह के बाद वर्षा में ही यह दुर्घटना हुई। इसने सबको दुःख के सागर में डाल दिया। कनीरामजी के लिए तो यह असह्य वेदना की बात थी। एक बेटे का अभी विवाह हुआ, हलदी का रंग भी नहीं छूटा और दूसरा बेटा चल बसा। अभी तो घरवालों के हौसले भी पूरे न हो पाये थे कि यह महान् संकट आ पड़ा। कनीरामजी के लिए वर्धा में पानी पीना तक असह्य हो गया। बच्छराजजी ने बहुत समझाया कि अब यहीं रहो, इसीको अपना घर समझो, पर कनीरामजी कैसे मानते। वह स्वाभिमानी थे। आखिर कनीरामजी की मानसिक स्थिति को देखकर माधवजी को उनके साथ थोड़े दिनों के लिए मारवाड़ भेजना पड़ा। कितनी उमंग से रास्ते भर मंगल गीत गाते हुए आये और लौटते समय का यह कैसा करुण दृश्य था!

बच्छराजजी भले ही तेज स्वभाव के रहे हों और यह भी ठीक है कि उनके मुंह से सदा गालियां 'घी के नालों' की तरह बहती थीं, पर जमनालालजी को प्यार तो वह इतना करते थे कि रात को अधिकतर अपने साथ ही सुलाते। दादी और मां के बाद तो घर में सबकुछ बच्छराजजी ही थे। सारा भार उनपर ही था। मैं तो बच्ची-जैसी थी। मेरा उतना परिचय भी नहीं बढ़ा था। जब जमनालालजी सोलह-सत्तरह वर्ष के रहे होंगे तभी बच्छराजजी का भी स्वर्गवास हो गया था। अब परिवार में हम दोनों रह गये। बड़े भाई माधवलालजी कारोबार देखते थे। बच्छराजजी परिवार के आधार-स्तम्भ थे। अब ऐसा कौन था जो हमें प्यार करता, हमें अपनी बालसुलभ गलतियों से बचाता, हमारी सुख-सुविधाओं का खयाल रखता? लेकिन जमनालालजी ने अपने बड़े भाई को निकट पाकर धीरज रखा।

माधवलालजी बच्छराजजी के हाथ के नीचे व्यवहारिक शिक्षा पा चुके थे। वही कारोबार चलाते थे। हट्टे-कट्टे स्वस्थ थे। पर किसे पता था कि अभी दुःखों की सीमा आना बाकी है।

थोड़े समय बाद ही माधवलालजी को भी वही मियादी बुखार आया और वह भी नौ दिन में ही चलते बने। यह अचरज की बात थी कि आठ दिन तक वह भर बुखार में भी स्नान करके रुई की खरीद के लिए जाते रहे और किसीको कुछ भी बताया तक नहीं। नवें दिन एकाएक सन्निपात हो गया। उस दिन जब उनसे पूछने गये तब भी उन्होंने कहा, "मांदगी भी मजा है, जिससे लोग सोये हुए की खबर लेते हैं।" इलाज के लिए बड़ी दौड़-धूप की गई, पर उन्हें बचाया नहीं जा सका। इससे जमनालालजी के धैर्य का बांध टूट गया और रह-रहकर उनकी आंखों के आगे मौत का दृश्य आने लगा। दादी का निर्मल प्यार, मां का लाड़, दादाजी का स्नेह और भाई की ममता की याद उन्हें सताने लगी। अब वह अपनेको आपे में न रख सके। इस घटना का उनके दिल पर इतना असर हुआ कि उन्हें भी १०४ डिग्री बुखार चढ़ आया और वह बेहोश हो गये। सोचने लगे—अब पिताजी को मुंह कैसे दिखाऊँगा। हम तीन लड़कों में से अब उनका एक भी न रहा; उनके तीनों लड़के वर्धा की भेंट चढ़ गये; दो चल बसे और ये भी पराए हो गये। इसी सोच में वह अस्वस्थ हो गये। उनका जन्मजात वैराग्य और भी तीव्र हो उठा और वह साधु बनने तथा गंगा किनारे कुटिया बनाकर रहने की बात सोचने लगे।

इन घटनाओं ने उन्हें और सजग बना दिया। वह मौत को सदा सिर पर देखने लगे। कौन जाने मृत्यु कब आ जायगी? इसलिए उन्होंने अपने जीवन में कई बार मृत्यु-पत्र बनाये और एक वाक्य तो सदा ही उनके मुख पर रहता था—"एक दिन मरना अवश्य है—अन्याय से डरो।" यह वाक्य छपाकर अपने कमरे में तथा अन्य जगहों पर भी टांग रखा था।

: ६ :

डालूराम की सेवापरायणता

मेरे भाई दो बार मुझे लेने के लिए आये, लेकिन बच्छराजजी ने इन्हें खाली लौटा दिया। अब मेरी ओर से निराश हो गये और उन्होंने समझ लिया कि मुझे पीहर ले जाना कठिन है। उस समय दलूरामजी जाजोदिया के यहाँ डालूराम चौबे नौकरी करता था। मेरे विवाह के कामकाज में उसका मेरे पीहरवालों से सम्बन्ध आया था। इसलिए मेरे पीहरवाले भी डालूराम को जानते थे। मेरे भाई ने सोचा कि यदि डालूराम बच्छराजजी के यहाँ नौकरी करने लगे तो बाई की खबर मिलती रहेगी और वह बाई की सार-सम्हाल भी करता रहेगा। उन्होंने डालूराम से कहा कि तुम बच्छराजजी के यहाँ नौकरी कर लो तो हमें बाई की चिन्ता कम रहेगी।

डालूराम ने कहा—"बच्छराजजी के यहाँ? बाप रे बाप! उनकी गालियाँ कौन खायगा?"

भाई ने कहा—"वह जो गाली देंगे हमपर लगेंगी, पर तुम उनकी नौकरी बाई के वास्ते कर लो।"

मेरे भाई डालूराम को साथ लेकर बच्छराजजी के पास गये और बोले कि आप डालूराम को काम पर रख लीजिए।

बच्छराजजी ने कहा—"हाँ, वह खुशी से रह सकता है।"

भाई ने कहा—"पर इसका कहना है कि आपके मुँह से गालियाँ बहुत निकलती हैं।"

इसपर बच्छराजजी ने कहा—"साजी, मेरी गालियाँ तो घी की नाली हैं, मेरा स्वभाव हो गया है, क्या करूँ?"

तब मेरे भाई ने डालूराम को समझाते हुए कहा—"भाई, जब यह खुद ही ऐसा कह रहे हैं, तब इनकी गालियों का खयाल नहीं करना चाहिए।"

इस तरह डालूराम हमारे यहाँ काम करने लगा।

पहले तो डालूराम गाँव के चलते-पुर्जों की टोली में माना जाता था और उसी वातावरण में रहता था, पर हमारे यहाँ आने के बाद उसमें जिम्मेदारी की भावना जगी। उसने सोचा कि जमनालालजी का क्या भरोसा, चाहे जब साधू बन सकते हैं। बाई की उम्र छोटी है और जावरावालों ने इसकी जवाबदारी मुझपर छोड़ी है, तो मुझे अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए। जावरावालों के सम्बन्ध के कारण डालूराम मेरे साथ धर्म-बहन का व्यवहार करने लगा। वह मेरा इतना ध्यान रखता कि मुझे किसी बात की तकलीफ न होने पावे। नीचे की सीढ़ियों के पास से ही मेरे बारे में वह नौकरानियों से पुछवाता रहता। मैं अगर ऊपर गैलरी पर कभी खड़ी दीखती तो कहलवा देता कि बाई से अन्दर जाने को कहो। कोई देख लेगा तो क्या कहेगा। बहू-बेटियों को भीतर ही रहना चाहिए। मैं गहने जो पहनती, उनकी वह यादी (सूची) बना लेता। मैं बच्ची ही तो थी। स्नानघर में या कहीं भी कोई गहना छोड़ देती; इसीलिए डालूराम इस मामले में चौकस रहता। उसने हमारे यहाँ के बरतनों आदि सारी चीजों की भी फेहरिस्त बना ली थी।

वह हमारे घर का एक प्रकार से सुपरिन्टेण्डेण्ट हो गया था। मुझे तो ऐसा लगने लगा कि मैं पूरी तरह जेल में बन्द करदी गई हूँ और डालूराम जेलर की तरह मेरा ध्यान रखता है। पर वह जेल ऐसा था जिसमें कोई बन्धन नहीं था और वह जेलर ऐसा था जो अपने आपको सेवक समझता था। वह तो मुझे हर तरह सुख देना चाहता था, पर उसकी कड़ाई इतनी होती थी कि वह मुझे 'सास' जैसा ही लगता था।

डालराम पढ़ा-लिखा था। वह मुझे सती सीता-सी बनाना चाहता था। इसके लिए उसने मुझे 'पति-भक्ति' नामक एक पुस्तक भी पढ़ने के लिए भिजवाई। उसने अपने आपको हमारे परिवार में समर्पित कर दिया था। वह मुझे इतनी लज्जावती के रूप में देखना चाहता था कि समाज में मेरी प्रतिष्ठा हो। उस समय समाज में परदा आदि की प्रतिष्ठा थी ही। मैं मन्दिर जाती तो वह दूसरों को हटा देता, चौके में भोजन करने का समय होता तो दूसरों को आने से मना कर देता। मेरी छाया भी

कोई न देख पाये यह उसकी इच्छा रहती थी। मैं भी इन बातों में अपनी प्रतिष्ठा समझती थी। मैं जब कभी अपने ममिया ससुर बिरदीचन्दजी पोद्दार के यहां जाती-आती तो बन्द घोड़ागाड़ी में ही जाती और उसके दरवाजे पर भी चादर डाल दी जाती थी। समाज में तो यह रिवाज नहीं था, परन्तु मेरे उम्र में छोटी होने के कारण वह जैसा करता, वही चल जाता। वह अपने घर नही जाता और हमारे यहाँ रहता था। उसने सचमुच हमारे यहाँ हनुमान बनकर कार्य किया।

जब मेरे बाल-बच्चे हुए, तब वह उनको खिलाता रहता। एक बार जमनालालजी ने सोचा कि डालूराम पढ़ा-लिखा है, इसलिए इससे योग्य काम लिया जाय तो ठीक रहेगा। उसे रोकड़ का काम सौंपा गया। पर डालूराम भी अपनी धुन का एक ही था। बचा हुआ रोकड़ का काम रात को दो-दो बजे तक पूरा किया करता और दिन में बाल-बच्चों को ही अधिकतर सभालता रहता।

वह मुझे अपनी बहन मानता था। उसने एक दिन पण्डित से पूछा कि कोई अगर बहन के यहाँ नौकरी करे तो भोजन करना चाहिए कि नही? इसपर ब्राह्मण ने कहा कि नौकरी कर ली तो भोजन करने में हर्ज नही है। फिर भी वह हमारे ऊपर की चीजें न खाता और नीचे जो रसोड़ा चलता था, उसीमें भोजन करता।

सन् १६१७ में देशभर में इन्फ्लुएंजा फैल गया था। हजारों आदमी इस बीमारी से मरने लगे। हमारे यहाँ भी सब बीमार हो गए। डालूराम की खूब देखभाल की गई, पर टूटी को बूटी नहीं लगती। वर्षों तक उसने हमारे परिवार की निष्ठा और भक्ति के साथ सेवा की थी। अन्तिम समय उससे पूछा गया कि तुम्हारी जो इच्छा हो सो कह दो। उसने कहा "गगा नाम की नौकरानी को नही छोड़ना, नही तो बच्चे कुएं में गिर जायंगे।" उसने यह बात इसलिए कही थी कि मन्दिर का कुआं नजदीक ही था और बच्चे वहाँ खेला करते थे तथा मेरे तेज स्वभाव के कारण बच्चे मेरे पास टिकते न थे।

उसके माता-पिता और पत्नी तो पहले ही चल बसे थे। दो भाई थे, उनके बारे में भी उससे पूछा गया। पर उसने कुछ नहीं कहा, केवल हाथ

हिला दिये। उसके दोनों भाइयों को बोर्डिंग हाउस में पढ़ने के लिए
कर रखा था। दोनों के विवाह भी जमनालालजी ने ही किये थे और
काम पर लगा दिया था।

: १० :

संस्कार तथा शिक्षा

धार्मिक संस्कार मुझे बचपन में मां से मिले थे और ये संस्कार उम्र के साथ बढ़ते गये। जो भी किताब मैं पढ़ती, उसकी सब बातों के पालन का प्रयत्न करती, क्योंकि मैं यही समझती थी कि किताबों में जो कुछ लिखा हुआ होता है वह सब भगवान का ही लिखा हुआ या वेद-वाक्य है। मैं अधिकतर धार्मिक किताबें ही पढ़ती थी। जब डालूराम ने 'पतिभक्ति' नामक पुस्तक मेरे पास भेजी थी तो मैंने उसे इसी भावना से पढ़ा था और उसमें लिखी बातों के अनुसार चलने की कोशिश भी करने लगी।

पहली बात, जिसका मुझपर असर हुआ, वह यह कि पति या बड़ों के बाद ही भोजन करना चाहिए। मैं ऐसा करने लगी। बच्छराजजी तथा जमनालालजी प्रातःकाल कलेवे में बादाम का हलुआ और कुछ नमकीन खाकर काम में लग जाते और मेरे लिए भी ऊपर से चीजें आ जातीं। बच्छराजजी नौकरानी से पूछते भी रहते कि बीनणी ने कलेवा कर लिया क्या? मैं बिना कलेवा किये ही 'हां' कहला देती और पूजापाठ तथा सीने-पिरोने में ही लगी रहती। दो बजे भोजन करती। वे सुबह कलेवा कर लेते हैं तो मैं भी कलेवा कर सकती हूं, यह समझना मेरे लिए कठिन था। जब बच्छराजजी तथा जमनालालजी भोजन कर चुकते तभी मैं भोजन करती थी। इसमें दो बज जाया करते थे। नियम-पालन का इतना खयाल रखती थी कि कभी कोई चीज खाने की इच्छा भी हो जाती तो भी मुंह में डालने से बचती। पीहर में तो मैं दिनभर में कई बार खा-पी लेती थी। पर अब तो मेरा खाना-पीना पतिभक्ति की भावना के अनुसार होने लगा। दूसरे, मैं पति की जूठी थाली में भोजन करने को पतिभक्ति

समझती थी। इसलिए मैं जमनालालजी की थाली रखवा लेती और उसीमें भोजन करती।

इस तरह अनियमित भोजन का मेरे शरीर पर असर होने लगा। मेरे पेट में गाँठें होने लगी। टट्टी जाते समय बहुत कष्ट होता। शरम के कारण यह बात किसीसे कहने में संकोच करती और यह सोचकर रह जाती कि इसमें दूसरा कोई क्या करेगा। परिणाम यह हुआ कि मुझे मस्सों की बीमारी (बवासीर) हो गई जो बाद में बढ़ती ही गई।

जमनालालजी के मामा बिरदीचन्दजी पोद्दार वेदान्ती थे। वह अपने बगीचे में जाकर ध्यान आदि किया करते थे। जमनालालजी अपने बगीचे में शिवजी की पूजा करते थे और रुद्राक्ष की माला गौ-मुखी में डालकर फेरते। उनके कमरे में योगियों के चित्र भी टँगे रहते थे।

जब जमनालालजी से मेरा परिचय बढ़ा तब मैंने उनसे कहा कि पूजा घर पर ही किया करें। उन्होंने यह मान लिया और पूजा का सामान बगीचे से घर मँगवा लिया। वह स्नान करके पूजा में बैठते और मैं उनकी धोती धोकर उनकी पूजा करती। उनकी धोती धोने की मैंने नौकरों को मनाई कर दी थी। मैंने पढ़ा था कि पति का पादोदक, जैसे वैष्णवों में गुरु का लेते हैं, लेना चाहिए और सफेद फूल से पूजा करनी चाहिए। इसलिए मैंने एक गमला ऊपर रख लिया था और उसमें से रोज एक फूल उतारकर चढ़ाती और श्लोक का पाठ करते हुए चाँदी की कटोरी में दाहिने पैर के अँगूठे को धोकर उस जल को पी जाती।

जमनालालजी को ये दोनों क्रियाएँ—जूठी थाली में भोजन करना और अँगूठे को धोकर पीना—अच्छी नहीं लगती थीं। जूठी थाली में भोजन करना तो कुछ समय के बाद बन्द ही कर देना पड़ा। एक तो उनकी अरुचि थी, दूसरे जूठे थाल पर मक्खी आदि बैठती थी सो मुझे भी ठीक नहीं लगता था। पर पादोदक का लेना मेरे आग्रह के कारण चलता रहा। मेरे आग्रह के आगे उन्होंने भी फिर कुछ कहना फिजूल समझा और यह क्रिया चलती रही। जब वह जेल आदि चले जाते तब मैं उनका पादोदक शीशी में भरकर रख लेती और जब कभी उनसे मिलने जाती, चुपचाप पैर धोकर ले आती।

एक बार हम लोग चित्रकूट गए थे। चित्रकूट की मिट्टी का कण-कण पवित्र है। वहां की मिट्टी मैं लाना चाहती थी। पर मिट्टी लाने में मेरा उद्देश्य यह भी था कि जमनालालजी के पैरों की रज और भी पवित्र रहेगी। इसलिए जबतक हम वहां रहे तबतक मैंने एक काम किया कि जब भी वह बाहर से आते तब उनका दाहिना अंगूठा धोकर वहां की मिट्टी के पेड़े-से बना लिया करती। आज भी ये पेड़े मेरे पास रखे हैं। प्रतिदिन स्नान के बाद अब भी उसका एक कण मुंह में रख लेती हूं।

भादों की अमावस्या को स्त्रियां सती की पूजा करती हैं। मैंने सोचा कि मैं भी सती बन जाऊं तो मेरी भी पूजा होगी। पर सती होऊं कैसे? अगर पति के पहले मर गई तो सती होने का मौका हाथ से निकल जायगा—ऐसे विचार मन में आते रहते।

जब जमनालालजी से जान-पहचान बढ़ने लगी, तब उनके मन में आया कि मेरी पढ़ाई आगे बढ़े तो अच्छा हो। उनकी पढ़ाई भी बचपन में कम ही हो पाई थी। इसका कारण था उनके दादाजी का बहुत ज्यादा प्यार। उन्हें इसका अफसोस रहता था और अपनी पढ़ाई की भी कोशिश करते रहते थे। एक तो व्यापार के कारण उन्हें फुरसत बहुत कम मिलती थी, दूसरे बचपन में नियमित पढ़ाई न होने से जमकर पढ़ने की आदत नहीं थी। लेकिन वह एक पढ़े-लिखे आदमी को हमेशा मन्त्री के रूप में रखते थे, जो उन्हें पढ़ाने का भी काम करता।

मेरे पास काम-काज भी कुछ न था। बाल-बच्चे भी बाद में ही हुए थे। इसीलिए एक मास्टरनी रख दी गई। उन दिनों वहां मराठी की ही पढ़ाई होती थी, इसलिए मराठी मास्टरनी का ही मिलना आसान था। वर्धा की बोल-चाल की भाषा भी मराठी ही थी। इसलिए यह भी दृष्टि रही कि मराठी का ज्ञान बढ़े तो अच्छा। पर मुझे 'इकडे-तिकडे' में रस नहीं आया। कोशिश करने पर भी मेरी प्रगति मराठी में अधिक न हो सकी। मास्टरनी साल-दो साल तक आती तो रही पर अधिक समय बात-चीत में ही चला जाता।

इसके बाद एक पारसी बहन को मुझे पढ़ाने के लिए रखा गया।

उसे मेरा सामान्य ज्ञान बढ़ाने का काम सौंपा गया। वह मुझे अखबार पढ़कर सुनाती। इससे तरह-तरह खबर सुनने को मिलने लगे। मेरी इसमें रुचि बढ़ने लगी। मुझे केवल सुनना पड़ता था, पढ़ने-लिखने की मेहनत तो करनी ही नहीं। जहाँ हम रहते थे, वहाँ चौगान (दालान) में रोज व्याख्यान होते रहते थे। वही अब गांधीचौक कहलाता है। इस तरह मेरा सामान्य-ज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता गया।

उन दिनों मैं परदे में रहती थी, स्वभाव भी मेरा शर्मीला था, इसलिए सामाजिक और राजनीतिक बातों को मैं क्या जानती? लेकिन अखबार की पढ़ाई तथा सभाओं से मेरी जानकारी बढ़ती गई। ज्यों-ज्यों घर पर बड़े-बड़े लोगों का आना-जाना बढ़ा, और मैं भी बाहर जाने लगी तब बहुत-सी बातों का ज्ञान मुझे हुआ। चर्चाओं तथा सभाओं से कई बातें जानने को मिलतीं। धार्मिक पठन-पाठन तो प्रायः होता ही रहता। लेकिन वाचन अधिक न हो सका। इसलिए किताबी ज्ञान की अपेक्षा सभाओं तथा चर्चाओं से ही मेरा ज्ञान बढ़ा। जमनालालजी मुझे अपनी डाक पढ़ने के लिए भी कहते रहते। लेकिन एकाध पत्र से अधिक पढ़ने में मेरा मन नहीं लगता था। बाल-बच्चे होने पर तो पढ़ाई का सिलसिला कुछ समय के लिए टूट-सा गया।

सो सीखने की इच्छा तो आज भी वैसी ही है, पर सीखने की लगन का अभाव मुझमें बचपन से ही रहा। लगन तो तपस्या है। वह मुझसे नहीं हो सकी। यही कारण है कि जमनालालजी की तथा अपनी बहुतेरी कोशिशों के बाद भी मैं आगे न बढ़ सकी। फिर भी जैसे वातावरण में मैं रही, उससे मुझे काफी जानकारी मिली और मैं उससे अपना काम चला ही लेती हूँ।

: ११ :

वच्छराजजी का स्वर्गवास

सद्दीबाई धार्मिक वृत्ति की थी। उन्होंने अपने जीवन में धर्म-कार्यों में दिल खोलकर खर्च किया और अन्तिम समय भी वह अपनी रकम से लक्ष्मीनारायणजी का मन्दिर बनाने के लिए कहकर सिधारीं। उनका एक लाख रुपया दुकान में जमा था।

वच्छराजजी का ध्यान व्यापार की तरफ अधिक रहता था। इसलिए मन्दिर का काम शुरू करने की ओर उनका ध्यान नहीं गया। लेकिन जमनालालजी इस बात को नहीं भूले थे। एक तो दादीजी का उनपर अत्यन्त प्यार था, दूसरे वह स्वयं धर्मभाववाले थे और ली हुई जिम्मेदारी को पूरी करने की तत्परता भी उनमें थी। इसलिए उन्होंने मन्दिर का काम शुरू करने के लिए दादाजी से पूछा। उनकी मंजूरी मिल गई और काम शुरू हो गया।

मन्दिर का काम हीरालालजी फतेहपुरिया (ओसवाल) की सलाह से होने लगा। काम की देखरेख में सुविधा हो, इसलिए मन्दिर के पासवाले मकान में हम रहने लगे। जैसे-जैसे मन्दिर का काम बढ़ने लगा, वच्छराजजी की दिलचस्पी भी इसमें बढ़ने लगी।

मूर्तियों के लिए बम्बई के माधवबाग के मन्दिर का नमूना दिया गया, पर मूर्तियां उससे बड़ी ही आईं। मूर्तियों की जरी की पोशाकें बनाने के लिए बम्बई से कारीगर बुलाये गए। जेवर बनवाते समय वच्छराजजी ने कहा, "छोकरी से पूछो कि भगवान के लिए गहना घर से देना है या नया बनवाना है?" वच्छराजजी मुझे 'छोकरी' ही कहा करते थे। मुझपर उन दिनों भक्ति का रंग चढ़ा हुआ था। मैंने कहला दिया कि जो मूर्तियों के पहनने में आ सके वह जेवर तो घर का ही चढ़ा दिया

जाय तथा हाथ के जेवर मूर्ति के माप के बनवा लिये जायं। करीब बीस हजार के जेवर पर से दिये गए और बाकी नये बनवाये गये। प्रतिष्ठा में दस महीने पहले से ही कारीगर बैठाये गये थे। प्रतिष्ठा तक काम चलता रहा। मैं भी रात के दस-दस बजे तक मूर्तियों के कपड़े सीती रहती। हम तीनों को बस यही धुन लग गई थी कि मन्दिर बढ़िया बने, जेवर तथा पोशाकें सुन्दर हों, और प्रतिष्ठा ठाट से हो।

सद्दीबाईजी के स्वर्गवास के कारण बच्छराजजी का स्वास्थ्य गिरता गया। वह पलंग पर पड़े-ही-पड़े वहीं से काम-काज की बातें करते रहते। मूर्तियाँ उनके पलंग के पास ही रखी हुई थीं। वह कहने लगे कि मरने से पहले प्रतिष्ठा देख लूं तो ठीक। उनपर भक्ति का रंग चढ़ने लगा था। सचमुच यह उनके जीवन का बहुत बड़ा परिवर्तन था, क्योंकि उनकी सारी उम्र व्यापार में ही बीती थी।

सद्दीबाईजी के जीते-जी, जिनका धर्म की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं गया, वह अब धर्म में रंग गये। यह सद्दीबाईजी का पुण्य-प्रताप ही समझना चाहिए। प्रतिष्ठा बहुत ठाट-बाट से हुई। बनारस के पं० शिवकुमारजी कई पण्डितों के साथ आए थे।

सद्दीबाईजी ने मन्दिर के लिए एक लाख रुपया छोड़ा था। लेकिन काम शुरू होने पर हम सब उसमें इतने लीन हो गये कि खर्च का ध्यान ही न रहा और लगभग पौने दो लाख रुपया खर्च हुआ। मन्दिर का भविष्य में खर्च अच्छी तरह चलता रहे, इसलिए मन्दिर के लिए एक ट्रस्ट बनाया गया और मन्दिर के नाम पर काफी जायदाद कर दी गई। वह ट्रस्ट अबतक चल रहा है।

बच्छराजजी को मसे की बीमारी थी। इस कारण उनका स्वास्थ्य ठीक न रहता था, दादीजी के स्वर्गवास के बाद तो और भी बिगड़ गया। मन्दिर की प्रतिष्ठा के बाद एक दिन उनको अचानक हिचकी आई। माधवजी दौड़कर बालूरामजी चूड़ीवाला के पास गये और बोले—"भाया, दादाजी न हुचकी आई, चलो।" बालूजी समझ गये। उन्होंने दान-पुण्य के लिए अनाज, घी, शक्कर आदि सामान मगाया। बालूजी आये तबतक दादाजी चल बसे थे।

दादाजी के प्राण मन्दिर की सन्ध्या को आरती के समय निकले। मारवाड़ी-समाज में सूर्यास्त के बाद दाह-संस्कार का रिवाज न होने से रात-भर हम लोग उनके शव के पास बैठे रहे। सबेरे ठाट-बाट से उनकी अरथी निकली। सड़क की सफाई की गई पानी छिड़का गया। अरथी पर पैसों की बखेर की गई। गरमी के दिन थे, अरथी उठाते समय वर्षा हो गई। वातावरण में ठंडक आ गई। दाह-संस्कार बगीचे में किया गया, जहां दादीजी-सद्दीबाईजी का भी संस्कार हुआ था। दोनों के स्मारक के रूप में छत्री बनी हुई है। छत्री के नीचे गुफा बनाई गई थी, जहां साधु-संन्यासी ध्यान आदि किया करते थे और उनके लिए दूध, भोजन आदि घर से भेजा जाता था। वह बगीचा 'सद्दीबाई पार्क' कहलाता है।

बच्छराजजी की मृत्यु के बाद गरीबों को खिलाना शुरू हुआ, जो बारहवीं तक चलता रहा। बारहवें दिन ब्राह्मणों तथा जातिवालों को जिमाया गया। उस दिन बहुत लोग जीमनेवाले थे। ब्राह्मणों तथा जातिवालों के लिए तो टट्टे बँधवाकर छाया कर दी गई थी, पर गरीबों के लिए तो ऐसा करना असम्भव था। जेठ की गरमी में उनको तपना पड़ेगा तथा हरिद्वार फूल ले जाने के लिए स्टेशन तक जानेवालों को धूप में नंगे पैर जाने में कष्ट होगा, ऐसे विचार मन में आ ही रहे थे कि बादल छा गए। स्त्री-पुरुष भजन गाते हुए स्टेशन पर पहुँचे। अभ्यागतो ने भी बादल की छाया में आराम से भोजन किया। जो लोग फूल लेकर गए थे, वे गंगाजल के आठ घड़े भरकर लाये। उपयोग में लाते-लाते अन्त में जमनालालजी के स्वर्गवास के समय एक घड़ा बच रहा था। उसी जल से उन्हे स्नान कराया गया। सचमुच यह बड़े आश्चर्य की बात थी कि चालीस वर्ष के बाद भी इस पानी में किसी प्रकार का विकार नही आया था, न कोई जन्तु ही पैदा हुआ था।

वर्धा की तरह ही मारवाड़ में भी बारहवीं होनी चाहिए, इसलिए वर्धा से बालूरामजी घूड़ीवाला को भेजा गया। वहाँ कनीरामजी ने तथा बालूरामजी ने ब्राह्मणों तथा जातिवालों को ठाट से जिमाया। ब्राह्मणों को दक्षिणा में एक-एक रुपया दिया गया। दस-दस कोस से कई ब्राह्मण बाल-बच्चो सहित आए। उस समय देश में एक रुपये की

नाथ जाने लगे तो मैंने उनसे कहा कि आप ठीक समझें तो मेरे लिए यह यात्रा कीजिए। उन्होंने अपनी सहज उदारता से यह स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार विनोबाजी की प्रेरणा से उनके शिष्य कुंदर दिवाणने लक्ष्मी-नारायण के मन्दिर में भागवत कथा कही। बहुत बरसों बाद भी किसी प्रकार अपना संकल्प यों पूरा कर सकी, इससे मन में सन्तोष हुआ।

बच्छराजजी के जाने से मानो जमनालालजी के सिर से छत्र उठ गया। पर बड़े भाई माधवजी के कारण उनको कोई अड़चन महसूस नहीं हुई। दादाजी का प्यार तो वह भुला ही कैसे सकते थे ? पर दैव की लीला तो कुछ और ही थी। एक दिन माधवजी भी चल बसे। यह जमनालालजी से न सहा गया। वह बे-सुध हो गए और पिताजी को तार देने तक की हिम्मत उनमें न रही। मानीराम नामक ब्राह्मण को देश भेजा। कनीरामजी पर तो माधवजी की मृत्यु से जैसे वज्रपात ही हो गया। वह पागलों की तरह जंगलों में भागते-फिरते थे। झाड़ों से सिर फोड़ते थे। जमनालालजी की मां और गांव के लोग पीछे-पीछे रहते थे। लोग सम्हालते, पर उनकी वेदना बहुत अधिक थी। जमनालालजी उनके पास गए। वह चाहते थे कि माता-पिता साथ ही रहें, पर कनी-रामजी वर्धा आने को राजी न हुए।

कनीरामजी की इमारती कामों में रुचि थी। जमनालालजी ने सीकर के रावराजा माधोसिंहजी से जमीन लेकर एक मकान बनाने का काम उन्हें सौंप दिया। इसे आज 'कमरा' कहते हैं। वहां बंगले को कमरा ही कहा जाता है। सीकर में माधवजी के नाम पर 'माधव दवा-खाना' खोल दिया। यह दवाखाना भी अबतक चल रहा है।

दक्षिणा बहुत बड़ी बात मानी जाती थी। उस समय कलदार रुपए को चेरासाही[1] कहते थे। दक्षिणा 'माथा दीठ' चुकती थी। इसलिए लोग साथ में जानवर भी ले आते थे।

उस जमाने में इस तरह का भोज प्रायः सभी जगह होता था। इसके लिए तैयारियां भी खूब करनी पड़ती थीं। बहुत-से पुरुष तो मिठाइयां लोटे में और बहनें घाघरों में छिपाकर ले जाती थीं। एक बहन के घाघरे का तो लड्डुओं के बोझ से टांका ही टूट गया। ४० लड्डू गिरे। जमनालालजी को जब यह बात मालूम हुई तो इसका उनके दिल पर बड़ा भारी असर हुआ और उन्होंने सोच लिया कि यह प्रथा रोकनी चाहिए; क्योंकि दक्षिणा लेनेवालों में दीनता आती है और देनेवालों में अहंकार। खर्च करनेवाला तो लाखों रुपया खर्च कर सकता है, पर ये बेचारे लालच में अपनेको गिरा देते हैं। इसी कारण जब कनीरामजी (उनके जन्म-पिता) की मृत्यु हुई, तब उन्होंने जीमन आदि का कार्य-क्रम बन्द रखा, हालांकि इससे जमनालालजी की जननी बिरदीबाई को दुख हुआ। उन्होंने कहा,

"थारा काकाजी घर का रुपया लगाकर, लोगों का कारज सुधारता हा, आज वांको ही मोसर कोनी होवे जद दुख तो होवे ही।"

इसपर जमनालालजी ने कहा, "मां, मैं काकाजी के नाम पर ऐसा काम करूंगा, जो उनकी कीर्ति को इससे भी ज्यादा बढ़ायगा और उनकी आत्मा को संतोष देगा।"

जमनालालजी ने कनीरामजी के नाम पर सीकर में हरिजनों के लिए एक पाठशाला खुलवा दी। यह 'कनीराम हरिजन पाठशाला' आज भी अपना कार्य कर रही है।

बच्छराजजी की मृत्यु के बाद उनके निमित्त भागवत की कथा कराने तथा बदरीनाथ की यात्रा करने का मैंने संकल्प किया था। मैं स्वयं तो जा नहीं सकी, लेकिन बहुत बादमें बापूजी के पुराने साथी स्वामी आनंद जब बदरी-

[1] 'चेरासाही' अर्थात् चेहराशाही। यानी अंग्रेजी शासन में चेहरे-वाला रुपया निकला था, जो देशी राज्यों के रुपये से अधिक कीमत का था।

नाथ जाने लगे तो मैंने उनसे कहा कि आप ठीक समझें तो मेरे लिए यह यात्रा कीजिए। उन्होंने अपनी सहज उदारता से यह स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार विनोबाजी की प्रेरणा से उनके शिष्य कुंदर दिवाण ने लक्ष्मी-नारायण के मन्दिर में भागवत कथा कही। बहुत वरसो बाद भी किसी प्रकार अपना संकल्प यों पूरा कर सकी, इससे मन में सन्तोष हुआ।

बच्छराजजी के जाने से मानो जमनालालजी के सिर से छत्र उठ गया। पर बड़े भाई माधवजी के कारण उनको कोई अड़चन महसूस नहीं हुई। दादाजी का प्यार तो वह भुला ही कैसे सकते थे? पर दैव की लीला तो कुछ और ही थी। एक दिन माधवजी भी चल बसे। यह जमनालालजी से न सहा गया। वह बे-सुध हो गए और पिताजी को तार देने तक की हिम्मत उनमें न रही। मानीराम नामक ब्राह्मण को देश भेजा। कनीरामजी पर तो माधवजी की मृत्यु से जैसे वज्रपात ही हो गया। वह पागलों की तरह जंगलों में भागते-फिरते थे। झाड़ों से सिर फोड़ते थे। जमनालालजी की मां और गाँव के लोग पीछे-पीछे रहते थे। लोग सम्हालते, पर उनकी वेदना बहुत अधिक थी। जमनालालजी उनके पास गए। वह चाहते थे कि माता-पिता साथ ही रहें, पर कनी-रामजी वर्धा आने को राजी न हुए।

कनीरामजी की इमारती कामों में रुचि थी। जमनालालजी ने सीकर के रावराजा माधोसिंहजी से जमीन लेकर एक मकान बनाने का काम उन्हें सौंप दिया। इसे आज 'कमरा' कहते हैं। वहाँ बंगले को कमरा ही कहा जाता है। सीकर में माधवजी के नाम पर 'माधव दवा-खाना' खोल दिया। यह दवाखाना भी अबतक चल रहा है।

: १२ :

गहना छूटा, घूंघट हटा

'मेरी उमर तेरह-चौदह बरस की रही होगी। एक दिन हमारे यहाँ एक मेहमान आये। उनकी कमर में सोने की तगड़ी थी। यह देखकर मैंने सोचा कि अपने यहां तगड़ियां पड़ी हुई हैं। जमनालालजी पहनें तो अच्छा। मैंने उनसे कहा, "थे भी सोना की तागडी पेर्यां करो।" उन्होने उत्तर दिया—"सोना तो भगवान का रूप है। उसे कमर के नीचे नही पहनना चाहिए।" मै चुप हो गई और मेरे सामने यही प्रश्न उपस्थित हो गया कि मै क्या करूँ। वाद-विवाद करने-जैसी मेरी स्थिति नही थी। जो कुछ मुझसे कहा जाता, चुपचाप श्रद्धा से सुन लेती और मान लेती। जब जमनालालजी सोने को भगवान-रूप बताया तब मैं भी कमर के नीचे सोना कैसे पहनती? पर तगड़ी का मोह छोडना भी कहां आसान था! मै सगाई के समय से तगड़ी पहनती आ रही थी और स्त्रियों के शृंगार में तगड़ी का विशेष स्थान माना जाता था। पहनने-ओढने के मामले में मैं उन दिनो बड़ी चौकस रहती थी। पर अन्त में मन को पक्का करके तगड़ी छोड़ना ही ठीक समझा और उसे निकाल दिया। आगे चलकर अग्रवाल-महासभा में जमनालालजी ने तगड़ी के बारे में एक भाषण दिया। तबसे बजाज-परिवार में तगड़ी बनवाने की किसी की हिम्मत ही नही हुई।

तगडी ही क्या, एक दिन तो ऐसा आया कि सारे गहनों का त्याग कर देना पड़ा। जब बापू ने बहनों से कहा कि जेवर मत पहनो, तब जमनालालजी ने मुझे एक पत्र लिखा कि बापू का आदेश है, गहने त्याग दो। यह बात वह रूबरू कहते तो शायद मैं उनसे बहस भी कर बैठती। पर उनकी चिट्ठी तो मेरे लिए वेद-वाक्य जैसी थी। चिट्ठी का एक-एक शब्द मेरे लिए भक्ति-भरा था। चिट्ठी मेरे सामने थी और मैं एक-एक गहना

उतारकर सामने धरती पर रखती जा रही थी। इस बार मुझसे कहा गया, "सोना कलि का रूप है। दूसरों में ईर्ष्या पैदा करता है, सो जाने का और चोरी का डर रहता है, शरीर पर मैल जम जाता है। नाक-कान में दुर्गन्ध आती है। इससे ब्याज का भी नुकसान होता है।" मुझपर इन सब बातों का बड़ा असर हुआ।

मारवाड़ी-समाज में स्त्रियों में पैर की चांदी की कड़ी खोली नहीं जाती थी। गरीब-से-गरीब के पैर में कड़ी तो रहती ही थी। पर जब कोई गहना पहनना ही नहीं था, तो फिर झूठे मोह को भी त्यागा। कड़ी निकालने पर लोगों को अचरज हुआ और कई बहनें मुझे बिना कड़ी पहने देखने को भी आईं।

वर्धा में अग्रवाल-महासभा का अधिवेशन होने वाला था। अधिवेशन की सारी तैयारियां हो गई थीं। पंडाल बन गया था। निमंत्रण-पत्र भेज दिये गए थे। लेकिन उसी समय देश भर में इन्फ्लुएंजा की बीमारी फैल गई। लोग तड़ातड़ मरने लगे। इसलिए अधिवेशन स्थगित कर दिया गया। फिर भी कुछ लोग निमन्त्रण पर आ ही गए।

जमनालालजी ने अपना जो भाषण तैयार किया था उसमें परदा-प्रथा के विरोध में कुछ लिखा था। वह जानते थे कि मैं तथा मेरी देवरानी आदि घूंघट काढ़ती हैं। जमनालालजी जो कुछ कहते थे, शुरुआत घर से करते थे। इसलिए उनकी हमपर नजर जाना स्वाभाविक था।

हमारी स्थिति बड़ी विचित्र थी। घूंघट का संस्कार एक-दो दिन या एक-दो पीढ़ियों का थोड़े ही था। वह एकाएक छूटे कैसे? घूंघट की प्रथा उस समय और बहुत जगह तो कल तक भी थी। राजस्थानी समाज में घूंघट प्रतिष्ठा, सभ्यता और कुलीनता का चिह्न माना जाता था।

श्रीकृष्णदासजी जाजू को जमनालालजी अपना बड़ा भाई मानते थे। उन्होंने जाजूजी से कहा, "आपको घर की औरतों से बात करनी चाहिए और उनमें संस्कार डालने चाहिए। वे निचली श्रेणी यानी नौकर-चाकरों से ही बातचीत करती हैं। इससे उनमें ऊंचे विचार कैसे आयगे? आप जैसे लोगों को संकोच छोड़कर उनके संकोच को दूर करना चाहिए।" पर जाजूजी तो जाजूजी ही थे। उनसे कोई बोले तो वे बोलें, अन्यथा चुप।

आखिर एक दिन जमनालालजी ने अपने पिता कनीरामजी को तैयार किया और हमसे कहा, "आपणे घर में घूंघट छोड़नो है, सो पैलीं काकाजी से ही शुरूआत करनी है। नीचे चालो, काकाजी नें तैयार करके आयो हूँ।" मैंने अपनी देवरानी (गंगाबिसन बजाज की पत्नी) से कहा, "बीनणी, सुसराजी के पास चालणो है।" उसने कहा, "जेठाणीजी आगे तो थानें ही चालणो पड़सी।" बड़ा संकट था। हम कैसे उनके पास जाती? हम तो यह बात सुनकर ही पसीना-पसीना हो गईं। खैर, किसी तरह हम दोनों उनके पास नीचे गईं और कुछ प्रणाम किया, कुछ नहीं किया कि भाग छूटीं। उन्होंने हमको आशीर्वाद दिया, "सुखी रहो बेटा।" वहभी पसीने से तर हो गए। हमारे घर में यह प्राचीनता के अन्त और नवीनता के उदय का सन्धिकाल था। एक बार पहाड़ की चोटी पर पहुँच जाना सरल होता, समुद्र को लाँघ जाना भी सरल होता, पर उस समय हमारे घर में ससुर के पास बिना घूंघट के बोलने के लिए जाना बहुत बड़ी बात थी!

इसके बाद माथे पर बोर लगाना छूटा। उसके छूटने से घूंघट भी छूटने लगा और घाघरे भी लहँगों में बदलने लगे।

उस समय घाघरे चालीस से लगाकर पचास गज तक के होते थे और उनमें तीन सौ से लगाकर चार सौ तक कलियाँ होती थीं। चार सौ कलियों का घाघरा तो मैं भी पहन चुकी हूँ। ऐसे बड़े घाघरे कई दिनों तक धुलते भी नहीं थे।

घूंघट रखने में मैं लज्जावती का भाव देखती थी। समाज में घूंघट की ही प्रतिष्ठा थी। लेकिन मैं सुन्दर न थी, इसलिए भी चाहती थी कि मुँह ढका रहे तो ठीक। पर जब मालूम हुआ कि घूँघट छोड़ने में ही प्रतिष्ठा है, तब मैंने हिम्मत की। लेकिन यह हिम्मत आने में बहुत कठिनाई हुई। अहमदाबाद-कांग्रेस के समय भी कुछ घूँघट था। जब साबरमती आश्रम में रहने गए तब वह पूरी तरह छूटा।

मेरा घूंघट छूट गया तो मुझे दूसरी बहनों का घूंघट खुलवाने की धुन लग गई। कई बहनों को मैं सभाओं में मंच पर घूँघट खुलवाकर खींच लाई। जहाँ-जहाँ मैं गई, मेरा यही काम हो गया। जो बहनें हिम्मत

करके मंच पर घूँघट खोल देती थीं, उनमें से कुछ तो उसे निभाती थी, कुछ को समाज तथा परिवार के डर के मारे फिर घूँघट में रहना पड़ता था।

आज से बाईस बरस पहले कलकत्ते में मारवाड़ी-महिला-सम्मेलन हुआ था। वहाँ वालों ने मुझे उसकी अध्यक्षा बनाया। उस अवसर पर बापूजी ने बड़ा सुन्दर सन्देश बहनों के लिए घूँघट-प्रथा के बारे में दिया था—

वर्धा, २५-१०-३३

प्रिय भगिनि,

आप बहनों से परदा तुड़वाने के लिए कलकत्ता जा रही हैं, इसलिए धन्यवाद। परदा वहम नहीं है, उसमें मुझे पाप की बू आती है। परदा किससे रखें? क्या पुरुष-मात्र विषयासक्त रहते हैं? क्या स्त्री अपनी पवित्रता बगैर परदा नहीं रख सकती है? पवित्रता मानसिक बात है, सभी पुरुषों में सहज होनी चाहिए। यदि इस बुद्धि-प्रधान युग में स्त्री धर्म की रक्षा करना चाहती है तो उसे दरिद्रनारायण की सेवा करनी होगी, शिक्षण लेना होगा। दरिद्रनारायण की सेवा करने का अर्थ है खादी प्रचार, कातना इत्यादि। हरिजन-सेवा का अर्थ है अस्पृश्यता-रूपी कलंक धोना। ये दो बड़े भगवान के कार्य हैं, और विद्या पाने का कार्य परदा रखने के साथ कभी नहीं चल सकता है।

परदा रखकर सीता रामजी के साथ जंगलों में भटकी होंगी? सीता से बड़ी पवित्र स्त्री जगत् में कभी हुई है? बहनों से कहो—परदा तोड़ो, धर्म रखो।

आपका—

मोहनदास गांधी

अभी तीन-चार बरस पहले जब मैं विनोबाजी के साथ राजस्थान के दौरे पर गई थी तब भी बीकानेर-जैसे राजस्थानियों के गढ़ में मैंने सभा-मंच पर कुछ बहनों का घूँघट खुलवा दिये।

मैं मानती हूँ कि परदा छोड़ना साहस की बात है; उससे दिल तथा दिमाग़ खुल जाता है। काम करने की हिम्मत बढ़ती है। लेकिन

परदा छोड़ने का मतलब अगर स्वच्छन्दता या उच्छृंखलता हो तो उसे ठीक कैसे कहा जा सकता है ? मुझे ऐसा लगता है कि पहले की बहनों में जो लाज-शरम और बड़ों की मर्यादा का मान था वह अपनाने जैसी चीज है। सुधार हमको ऊंचा उठावे तभी उसकी सार्थकता है।

: १३ :

खादी का प्रवेश

जमनालालजी तो स्वदेशी कपड़ा पहनते थे, पर मेरे साथ सभी तरह का चलता था। नागपुर-कांग्रेस के समय जब गांधीजी वर्धा आये तब मैंने मोटी साड़ियां मंगाईं। मोटी साड़ी ही पहनकर मैं कांग्रेस में गई। मैंने सोचा कि मोटे कपड़े को ही खादी कहते होंगे। पर जब महादेव-भाई ने कहा कि यह तो मिल का कपड़ा है, खादी नहीं; तब खादी और मिल के कपड़े की बात मेरी समझ में आई।

कांग्रेस से लौटने पर मैंने एक आदमी के साथ कुछ सूत कामठी भिजवाया और खादी बुनवाकर मंगवाई।

कामठी से जो खादी का थान बुनकर आया वह पनहे में छोटा था और मोटा भी था। पर उसे देखकर जो खुशी हुई, उसका वर्णन करना कठिन है। खादी तो आ गई, पर छोटे पनहे की होने से पहनी कैसे जाय? बीच में जोड़ लगाया गया और हलदी में रंगकर पहनी।

खादी की यह एक ही साड़ी थी। रात को पुरानी साड़ी पहनकर सो जाती और सुबह नहाकर खादी की साड़ी पहन लेती। तीन-तीन दिन तक यह साड़ी धुल नहीं पाती थी। अब दूसरी साड़ी की चिन्ता हुई। हम तीन-चार बहनें अर्जुनलालजी सेठी के पास गईं और उनसे कहकर अहमदाबाद से खादी का एक थान मंगवाया। यह थान तो कामठी के थान से भी मोटा था। इस थान को भी हलदी में रंग डाला अब मेरे पास दूसरी साड़ी हो गई, जिससे रात को पुरानी साड़ी बदलना बन्द हो गया।

गरमी के दिन थे। रात को इस साड़ी को पहनकर सोती तो नींद न आती। बेचैनी-सी रहती। ऐसा लगता कि टाट पर सो रही हूँ। पर मन में यह भी भावना उठती रही कि सीताजी-जैसी राजकुमारी ने वल्कल

धारण किया था, यह तो खादी है। इसके पहनने से न तो चमड़ी ही छिली, न खून ही निकला। इसलिए तो अच्छी ही है। कई दिनों तक इसी तरह की भावनाएं मन में उठती रहीं।

जो कपड़ा बच गया था, उसके बच्चों के कपड़े सिलवा दिये। वर्षा की गरमी एक तो पहले ही तेज, ऊपर से ये मोटे कपड़े! पसीने से बच्चों के घमौरियां उभर आईं। कोरी खादी पहनने से बच्चों की कोमल चमड़ी छिल गई। छाती में घाव-से हो गए। धोबी के यहां धुला लेने पर शायद यह कष्ट होता, कपड़ा मुलायम हो जाता, पर धोबी के यहां धुलाना जंचा नहीं, क्योंकि एक तो खादी के कपड़े कम थे, दूसरे धोबी से धुलाने में जल्दी फटने का डर था। पहली साड़ी मैंने ढाई साल तक पहनी और बाद में उसकी चादरें बनवा लीं।

कई वर्षों बाद जब मैंने खादी अपनी पहनने की बात दूसरी बहनों से कही तो कुछ ने मुझसे कहा, "आपके लिए क्या है, ज्यादा पैसा खर्च करके आप तो आन्ध्र की महँगी खादी भी पहन सकती हैं। हम इतनी महँगी खादी कैसे खरीदें?" तब मैंने कहा कि मैं भी तुम्हारी तरह मोटी खादी ही पहनूंगी।

कुछ बहनों ने खादी पहनना मंजूर किया और मंगवा देने को कहा। उनके लिए खादी मंगवाकर हलदी में रंगकर उनके घर भेजने लगी। इससे हमारे यहां बहनों का आना-जाना कम होने लगा। वे आपस में चर्चा करतीं—"सेठानीजी तो विधवा-जैसे कपड़े पहनने की बात करती हैं। वहां कौन जाय? गहने मत पहनो, कांग्रेस को पैसा दो और विधवा जैसे कपड़े पहनो, यह कौन करे बाबा?"

जब खादी पहनना शुरू किया तब हमारे यहां घूंघट था। खादी मोटी होने से घूंघट में बड़ी कठिनाई होती थी। बापू से पूछा, "और सब अड़चनें तो निभ जायंगी, पर घूंघट काढने पर दीखेगा कैसे?"

इसपर बापू ने कहा, खोजे जातिकी औरतों की तरह आखों की जगह जाली लगवा लो।" बापू की यह बात विनोद-भरी ही थी। बड़ी हँसी आई। बापू की इस बात में विशेषता दिखाई पड़ती है। उन्होंने बात का जवाब दिया, घूंघट हटा देने को नहीं कहा। वह घूंघट के पक्ष में नहीं थे, पर सामनेवाले के दिल को दुखाकर कोई काम नहीं करते थे।

बाद में हम अहमदाबाद-कांग्रेस में गए। वहाँ खादी-प्रदर्शनी हुई थी। खादी की दूकानें देखीं। मुझे ऐसा लगा, मानो भूखे को रोटी या निर्धन को धन मिल गया। धड़ाधड़ खादी खरीदने लगी। पैसे का तो कोई प्रश्न था ही नहीं। मैं तो खादी पर ऐसे टूटी, मानो आगे मिलेगी ही नहीं। मन भर कर खूब खादी खरीदी और एक गट्ठा बिस्तर की तरह बँधवा लिया। उन दिनों हमारे साथ सामान ढेर-सा होता था। जहाँ भी कांग्रेस में जाते, वहाँ चौका साथ चलता था और उसकी व्यवस्था के लिए सामान भी काफी ले जाना पड़ता था। नौकर-चाकर भी रहते थे। ऐसी धूमधाम रहती, मानो शादी ही हो। एक तो कांग्रेस की भीड़, फिर हमारे पास बहुत अधिक सामान का होना। इसलिए किसी चीज का छूट जाना सम्भव था। दैवयोग से खादी का वह गट्ठा ही छूट गया। नौकरों ने बहुत खोज-बीन की, पर गट्ठे का पता लगा ही नहीं। मैं तो एकदम सन्न रह गई। खादी खो जाने की बात कहने की हिम्मत भी नहीं होती थी और कहे बिना रहा भी नहीं जा सकता था। अन्त में हिम्मत कर जमनालालजी से कहा ही। सुनकर उन्होंने कहा, "जो ज्यादा लोभ करते हैं, उनपर ऐसी ही बीतनी चाहिए। अच्छा ही हुआ। जो ले गया, वह भी खादी पहनेगा। खादी का ही प्रचार हुआ।"

: १४ :
चरखे की धुन

खादी और मोटे कपड़े का असली फर्क महादेवभाई ने समझाया और मुझे खादी की लगन लग गई, पर चरखा कातने को तो खुद बापू ने कहा। हम लोग बम्बई गये हुए थे। नरोत्तम मोरारजी के यहां पहले-पहल बापू के दर्शन हुए। वह चरखा कात रहे थे। मैंने उनसे पूछा, "सूत कातना क्या अच्छा है ?" उन्होंने कहा, "सूत कातना बहुत अच्छा है।" उन्होंने यह बात इस ढंग से कही कि वह मेरे मन में जम गई। वर्धा आकर सासूजी (जमनालालजी की जन्ममाता) से कहा कि मुझे कातना सिखादो, गांधीजी ने कहा है। उन्होंने दो-तीन दिन में सिखा देने को कहा। मैंने एक चरखा मंगवाया, जो सात रुपए में बना था। सात दिन में मैं सूत कातना सीख गई।

कातना सीखने पर मन में होने लगा कि दूसरों को भी सिखाऊँ। धीरे-धीरे घर पर साठ चरखे इकट्ठे कर लिये और कताई का वर्ग ही शुरू कर दिया। वर्ग में लड़के, लड़कियां, सभी आते थे। समय की कोई पाबन्दी तो थी ही नहीं। जब भी जो आ जाता, सब काम छोड़-कर उसे सिखाने बैठ जाती। उत्साह की सीमा न थी। पर व्यवस्था के बारे में मैं ढीली ही रही और यही कारण है कि मैं किसी का समय न बांध सकी, न यह कह सकी कि चरखा या सामान ठीक तरह से रखा जाय। कोई पोनी को चरखे पर लगी छोड़ जाता, किसीका कचरा योंही पड़ा रहता, किसीकी माल टूट जाती तो किसीका तकुआ टेढ़ा हो जाता। इन सब कामों में ऐसी जुट गई कि दूसरा कोई काम ही न सूझता था। भोजन में भी रात के आठ-नौ बज जाते। खाते-पीते भी कोई आ जाता तो थाली छोड़कर दौड़ पड़ती।

पहले-पहल सूत की कुकड़ियाँ निकालकर बापू के पास भेजीं। देखकर उन्होंने लिखा कि सूत को लपेटकर आंटी बनाकर भेजना चाहिए। तब वैसा करने लगी।

सूत के ढेर लग गये। कुछ सूत कामठी बुनने के लिए भेजा, पर बाकी का सूत योंही पड़ा रहा। यह सूत बाद में विनोबाजी के पास भेज दिया।

सूत टूटता भी बहुत था। उसे जमा करती रहती। उससे तकिए और मसनद भरवाए गये। कताई का काम घर पर ही नहीं चलता था, दूसरों के यहाँ जा-जाकर भी चरखे सुधारती और चलवाती। इस तरह ज्यादा-से-ज्यादा चरखे का प्रचार हो, यही बात मन में जम गई थी। लोग चरखा-तकली सीखने में उत्साह तो दिखाते, पर खादी का शास्त्र तैयार न होने से अच्छी तरह सूत कातकर कपड़ा बुनवाने में कठिनाई भी थी। इसलिए सूत कातने पर भी खादी न मिल सकने से लोगों की रुचि नहीं बढ़ी। धीरे-धीरे लोगों का उत्साह कम होने लगा। जो लोग समझ-बूझकर कातने लगे थे वे तो कठिनाइयों में से रास्ता निकालकर सूत का उपयोग करने लगे। वे अपने सूत की खादी बुनवा लेते और उनका कातना चलता रहा, पर जिन्होंने आन्दोलन के उत्साह में कातना शुरू किया था वे लोग धीरे-धीरे कम होने लगे। जिन्होंने कातना कायम रखा, वे अब भी कात रहे हैं। आज भी जब कोई मुझे कातना सिखाने या चरखा सुधारने के लिए कहता है तो मेरा उत्साह जाग उठता है।

कताई के काम में मंदता रहने में पूनी की भी अड़चन रही है। अच्छी साफ पूनी के बिना सूत भी अच्छा नहीं निकलता, बार-बार तार टूटता है। इससे कातनेवाला ऊब जाता है। इसका मुझे अनुभव हुआ। जबसे मैं बजाजवाड़ी की खेती की ओर ध्यान देने लगी तबसे मैं इसका भी ध्यान रखने लगी कि पूनी के लिए अच्छी किस्म की कपास बोई जाय। कपास मैं स्वयं बच्चों तथा नौकरों से चुनवाती हूँ। इस तरह की चुनवाई में काफी समय लग जाता है। कपास चुनने के बाद हाथ से उसकी रुई निकालती हूँ और पूनियाँ बनवाती हूँ। इन पूनियों से मैं खुद कातती हूँ, घरवालों को देती हूँ और नियमित कातनेवालों को भी

देती हूँ।

मेरी इच्छा यही रहती कि इतनी मेहनत से तैयार की गई रुई का अच्छा उपयोग हो। इसलिए पिछले दो-तीन साल तक रुई मेरे पास रखी रही। मेरे देवर ने कई बार कहा कि घर पर रुई क्यों रखती हो, जीन में भेज दो यहाँ तो चूहे वगैरा खाते हैं। खराब करते हैं। पर मैंने यहाँ भेजी नहीं। किसी संस्था को देने में मुझे अच्छा लगता है। इस वर्ष मैंने अपनी तीन साल की कपास गोपुरीवालों को दे दी।

इस साल मैंने २५ सेर पूनी बनाई। कपास चुनने और पूनी बनाने के काम में मेरा चार-पांच महीने का समय लग गया। ये पूनियाँ बहुत महँगी दिखाई दी, पर हम सब लोग यह काम फुरसत के समय करते रहते हैं, इसलिए समय का भी उपयोग हो जाता है और अपने हाथ के काम में आनन्द भी आता है। मुझे तो ऐसे काम में प्रार्थना से भी अधिक आनन्द आता है।

गांधीजी के एक शब्द ने जो धुन लगा दी थी, वह अबतक बराबर चल रही है।

: १५ :

विदेशी कपड़ों की होली

जब कांग्रेस के सभासद बनाने की बात सामने आई तब मैं भी उसमें जुट पड़ी। बहनों को घर-घर जाकर सदस्य बनना शुरू कर दिया। मेरे इस काम से बहनों में जरा घबराहट हुई। जो मुझे पहले आदरपूर्वक बुलाती थी और जो जान-पहचानवाली थी वे भी अब चाहने लगी कि मैं उनके यहाँ न जाऊँ तो ठीक। दरवाजे बन्द कर लेती और कहलवा देती कि घर पर नही हैं। कुछ बहनें साफ-साफ भी कह देतीं या कहलवा देती कि सेठानीजी आप हमारे यहाँ मत आना। बात केवल चन्दा देने की नही थी, औरतों के नाम लिखाने और अगूठा आदि कराने की भी थी। इसलिए कठिनाई तो थी ही। सबसे अधिक सदस्य हरिजन मुहल्लों में बने। वे हमें प्रेम से बुलाते, आदर करते और पूरा मुहल्ला सदस्य बन जाता। वे लोग पैसे की थैलियां भर कर देते थे। पहले के सस्कारों के कारण हरिजनों के मुहल्लों में जाने मे झिझक तो होती थी, पर काम की धुन में हम वहाँ भी पहुँच ही जाती। धीरे-धीरे विचारों में परिवर्तन हुआ, पर हरिजनों के साथ मेल-मिलाप की बात आचार में आने में अब भी कठिनाई का अनुभव करती हूँ। संस्थाओं में हरिजनों के साथ उठने-बैठने, खाने पीने में संकोच नही होता, पर घर आकर स्वच्छता के संस्कारो के कारण ऐसा करने में कठिनाई मालूम होती है। उन दिनों हरिजन तथा गरीबों में कांग्रेसके प्रति ज्यादा प्रेम था और सामान्य जनता में उत्साह था।

कांग्रेस के सदस्य बनाने के बाद कांग्रेस के काम और प्रचार की शुरूआत हुई। मैं हर शनिवार को एक सभा करती और उसमें कांग्रेस की बातें समझाती। इसी समय विदेशी कपड़ों की होली की बात सामने आई। जमनालालजी ने मुझसे कहा, "गांधीजी का कहना है कि विलायती कपड़ा

राक्षस के रूप में अपने देश में घुस पड़ा है। इस पाप को हिन्दुस्तान में से निकालना है। अपने घर मे भी एक टुकड़ा न रहे।" गांधीजी की बात का असर उनपर हुआ और उनकी बात का मुझपर। अब यह काम कैसे करूं? घर में, दूकान मे, मन्दिर में, सब जगह विलायती कपड़े थे। सबकी सफाई कैसे की जाय? जमनालालजी से सलाह की। उन्होंने कहा, "ऐसा भी विचार चल रहा है कि नये कपड़े शायद बाहर भेजे जायं।" इसलिये मैंने नये कपड़े एक तरफ जमा किये और पहनने के एक तरफ। होली का समय नजदीक आते ही कपड़ों पर से जरी और गोटा-किनारी फाड-फाडकर अलग निकाली गई। मन्दिर की पोशाकें भी बाहर निकाली गईं। जहां-जहां विलायती कपड़ा दीख पडा, निकाल दिया। घरके कपड़े निकाले, दुकान से वे कपडे निकाले जो विवाह-शादियो के अवसर पर वर के लिए खास तौर पर तैयार होते हैं। चपरासियों के कपडे निकाले और गण-गौर के कपड़े भी निकाले। बच्चों ने अपनी गुड़ियो के कपडे भी लाकर दे दिये। फर्नीचर पर लगे हुए कपड़े फाड-फाडकर इकट्ठे किये गए; यहांतक कि जमनालालजी के विवाह की पगड़ी, कसूंबी वागा आदि जो शकुन के कपड़े अलग बंधे थे, वे भी निकाले गये। इन मागलिक वस्त्रों को होली में होमते समय मन में झिझक तो हुई, पर बाद में मन को पक्का कर लिया और सोच लिया कि इन कपड़ों के जलाने से उमर थोड़े ही कम होती है। ये कपड़े घर में रखे कैसे जा सकते थे? पाप को घर में कोई थोडे ही रखता है? विवाह के समय वर पर जो छत्र लगाया जाता है, उसे कैसे जलाया जाय! जब हम स्वराज्य लेने चले हैं, तब छत्र जलाना तो ठीक नहीं। छत्र जलाना मुझे भी नही जंचा। मैंने उसे मगनवाडी के कुएं में डलवा दिया।

सब कपडों को इकट्ठा करके और सजाकर जुलूस निकाला गया। गांव के लोगो ने भी अपने-अपने कपड़े उसमें डाले। लोगों ने ज्यादातर तो टोप ही डाले। टोप के बारे में उपयोगिता की जगह उसके विलायती रूप का ही भाव अधिक था। कपडों में जरी के और रेशमी कपड़ों को देखकर लोगों को बडा दर्द हुआ और कहने लगे कि इन कीमती कपड़ों को जलाने से क्या फायदा होगा? हमें ही दे दो। लेकिन

विलायती कपड़ा तो हिन्दुस्तान का पाप है। पाप कैसे बाँटा जा सकता है? पाप तो जलाने की ही चीज होती है। अन्त में सब कपड़ों की होली की गई। होली में जरी के भी बहुत सारे कपड़े थे। इनमें मन्दिर की पोशाकें और घर के कपड़े भी थे। जरी अलग से निकल जाय, इसलिए गांधी-चौक में दोनों चबूतरों पर दो होलियां जलाई गई। हमें तो चांदी का खयाल ही नही रहा, पर कनीरामजी दादाजी को इसका खयाल आ गया। उन्होंने रात भर पहरा दिया और उसमें से करीब ढाई सेर चांदी निकाली गई।

मुख्य होली के बाद सात दिन तक छोटे-बड़े कपड़े निकलते रहे और होलियां होती रहीं। होली की हवा बच्चों तक में फैल गई। मेरी बच्ची ओम् उस समय डेढ़-दो वर्ष की थी। वह भी अपने शरीर के वस्त्रों को 'या तो खादी कोनी, या तो खादी कोनी' (यह खादी नहीं है) कहकर फाड़ती रहती थी।

: १६ :

झण्डा-सत्याग्रह

१८ मार्च १९२३ की बात है। जबलपुर में कुछ स्वयंसेवक राष्ट्रीय झण्डा फहराते हुए छावनी की ओर बढ़ रहे थे। महात्माजी के कारावास-दिवस पर यह जलूस निकला था। पुलिस ने उसे उधर जाने से रोक दिया।

राष्ट्रीय सप्ताह में जलियावाला बाग के हत्याकाण्ड की याद में जब नागपुर में जलूस निकला और वह सिविल लाइन में जाने लगा तब वहाँ स्वयंसेवकों को पीटा गया। पकड़कर मुकदमा चलाया गया और दो-दो महीने की सजा दी गई।

इस घटना पर विचार करने के लिए वर्धा के सत्याग्रह-आश्रम में प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी की सभा हुई। आश्रम तब आज के बजाजवाड़ी के स्थान पर था, जिसे पहले घास का बँगला कहते थे। सत्याग्रह करने का निश्चय हुआ। सत्याग्रही भेजकर सत्याग्रह को जोरों से चलाने का भार जमनालालजी, बाबासाहब देश्लकर तथा भगवानदीनजी ने लिया। १८ मई को सत्याग्रह नागपुर से शुरू हुआ। जमनालालजी ने प्रतिदिन कम-से-कम दस आदमी तैयार करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली। उस समय स्वयंसेवक तैयार करना बड़ा कठिन था। अगर पुरुष और लड़के तैयार हो जाते तो स्त्रियाँ और माताएँ रोकतीं। इतनी कठिनाइयाँ होते हुए भी जमनालालजी ने काफी स्वयंसेवक तैयार किये। पर थोड़े ही दिनों में जमनालालजी स्वयं गिरफ्तार हो गए और उन्हें १८ महीने की सजा तथा तीन हजार रुपए का जुरमाना हुआ।

उनकी यह पहली गिरफ्तारी थी। इससे वर्धा-भर में सन्नाटा छा

गया। उस समय तक जेल के बारे में लोगों में यही मान्यता थी कि यहाँ तो चोर, डाकू, और खूनी अपराधी ही जाते हैं और जेल में भयानक कष्ट दिये जाते हैं। जेल जानेवाला समाज की नजरों से गिर जाता था। देशभक्ति में भी लोग जेल जा सकते हैं, इसकी कल्पना जनता को उस समय कहाँ थी? इसलिए जमनालालजी के जेल जाने की बात से घर के नौकरों-चाकरों तथा गाँव के लोगों में हाहाकार मच गया।

जुरमाना न देने के कारण हमारी मोटर और घोड़ागाड़ी जब्त कर ली गई। पर उनके लिए सारे मध्य-प्रदेश में कोई बोली बोलनेवाला न मिला। अन्त में मोटर को सौराष्ट्र में ले गए। सौराष्ट्र तब काठियावाड़ कहलाता था और वहाँ बहुत छोटे-छोटे राज्य थे। किसी राज्य के अंग्रेज अधिकारी को यह मोटर कुछ सौ में बेची गई। जमनालालजी की गिरफ्तारी के बाद सत्याग्रह का काम सरदार वल्लभभाई पटेल ने सम्हाला। चारों ओर से जेल जाने के लिए लोग आने लगे। कुछ स्त्रियाँ भी सत्याग्रह के लिए पहुँचीं। यह सत्याग्रह बड़ा सफल रहा। सार्वजनिक रूप से किया गया यह पहला सत्याग्रह कहा जा सकता है।

अन्त में सत्याग्रह की विजय हुई और गोकुल-अष्टमी के दिन सबके साथ जमनालालजी जेल से छूटे। गाँव-भर में आनन्द की लहर दौड़ गई। लोग सड़कों पर उत्साह से इधर-उधर घूमने लगे और कहने लगे—"कृष्ण जन्मला, आणि सेठजी सुटले।"

वर्धा में जमनालालजी के स्वागत की तैयारियाँ होने लगीं। सारा शहर सजाया गया। लोगोंमें अपूर्व उत्साह था। वह दोपहर को वर्धा आए। स्टेशन पर हजारों लोग उनके स्वागत के लिए गये। उन्हें देखकर लोगों के हृदय भर आये। उनका जलूस निकाला गया और माताओं और बहनों ने अबीर-गुलाल लगाया, कुंकुम लगाया, घी-शक्कर मुँह में दी।

घरों के सामने लोगों ने अपने-अपने पास जो चीज थी उसीके तोरण लगाए। बरतनवालों ने बरतनों के, कपड़ेवालों ने कपड़ों के, किरानेवालों ने किराने की चीजों के और मालिनों ने हरी मिर्च, शाक-सब्जी के तोरण लगाए। अपूर्व सजावट थी। मालाओं और फूलों का तो कोई ठिकाना ही न था। ऐसा अपूर्व स्वागत देखकर आँखें तृप्त हुई जा रही थीं।

यद्यपि जमनालालजी को 'ए' श्रेणी में रखा गया था, तथापि उन्होंने सबके साथ 'सी' श्रेणी का खाना खाया था। उनके जीवन में यह पहला ही अवसर था, जब उन्होंने बिना घी-दूध के केवल ज्वार की रोटी खाई और इतना कष्ट उठाया। इसका शरीर पर ऐसा परिणाम हुआ कि लोगों से देखा नहीं गया। चरबी सूख गई थी। कोमल और सुन्दर चेहरे पर लाली के बदले कालिमा छा गई थी। दाढ़ी बढ़ गई थी और शरीर सूखकर कांटा हो गया था। उन्होंने जब घर के कपड़े पहने तो ऐसा लगा मानो किसी के मांगे कपड़े पहने हों।

उनके मित्रों ने कहा कि अगर यह मालूम होता कि दो महीने में छूट जायंगे तो हम भी साथ-साथ जाते। इसपर वह हँसकर बोले कि यह कैसे कहा जाता कि दो महीने में छूट जायंगे। तैयारी तो लम्बी ही करनी चाहिए।

जब जमनालालजी छूटकर आए तब उनके साथ वे १५०० साथी भी आए, जो जेल से छूटे थे। भोजन की व्यवस्था के लिए पहले ही तार आ गया था, सो भोजन शाम को तैयार था। उन दिनों घर में बगीचे के बहुत-से कद्दू आए हुए रखे थे। शामको कद्दू का साग बना। दूसरे दिन भी कद्दू का ही साग बनवाया और तीसरे दिन भी जब उसीका साग बना तो जमनालालजी को बहुत दुःख हुआ। वह बोले, "तीन दिन से एक ही तरह का साग बनता है। क्या गाँव में दूसरा साग नहीं मिलता? यह क्या बात है? जेल में तो एक तरह का साग मिलता ही था।" मैंने कहा, "जी, घर में खेती का साग आया हुआ था, इसलिए वही बनवा लिया।" तब वह बोले, "ये लोग क्या रोज-रोज अपने घर आने वाले हैं!" यह बात उन्होंने इतने दर्द के साथ कही कि मुझे भी छू गई और मुझे भी दुःख हुआ, लेकिन अब हो क्या सकता था!

: १७ :

बड़ों की वेदना

मैं जब घूंघट निकालती थी तब एकदम राजपूतनियों की तरह और जब छोड़ा तब ऐसा कि लोगों में जाकर व्याख्यान भी देने लगी। यह बात घर के बड़ों को और बूढ़ी औरतों को खसलने लगी। जमनालालजी की माताजी कहने लगीं—"पड़दो कर्यो तो इस्यो कर्यो के कोई नख भी देख नहीं सकै, और छोड्यो तो इस्यो छोड्यो के मोट्यारां की सभा में व्याख्यान छांटे लागी !" मैंने हँसकर जवाब दिया—"थे तो थ्यावा जद से आमोंगा जठ तांई घूमंबाई देखोगा और म्हारा तो सात जनम एकई जनम में पूरा हो जासी।"

मेरे ससुरजी कनीरामजी को भी मेरे घूंघट खोलकर कांग्रेस के काम में पड़ने से कुछ दर्द-सा होता था। वह मुझसे बचने लगे। मैं निकलती तो खुद ही मुंह फेर लेते। मेरे प्रति तो उन्हें अन्त तक सहानुभूति ही रही। वह मानते थे कि मैं जो कुछ कर रही हूँ यह जमनालालजी के कहने से ही। कनीरामजी का अपने बेटे पर भी ऐसा स्नेह था कि वह उन्हें भी कुछ कहते नहीं थे। पर उनको गुस्सा था गांधीजी पर। उनका ख्याल था कि घर में यह जो कुछ हो रहा है, उसकी जड़ गांधीजी हैं। उन्हें गांधीजी की खादी तो अच्छी लगती थी। कहते थे—"खादी तो देश का जीवन है।" खुद खादी पहनते थे। मेरी सास ने तो ढेरों सूत कातकर कपड़े बनाए थे। पर उन्हें गांधीजीकी दूसरी बातें अच्छी नहीं लगती थीं। मेरा गहना उतार देना मेरी सास को अच्छा नहीं लगा था। वह कहतीं,"या टाबर तो सगला गेणा खोल दिया और म्हे पेरां, चोखो कोनी लागे।" इस तरह स्वाभाविक रीति से गहना कुटुम्ब में कम होता गया।

ससुरजी देवली जीन में रहते थे। मैं एक बार देवली में

देने गई और मैंने व्याख्यान में कहा कि तमाखू-बीड़ी पीना अच्छा नही। जब ससुरजी ने यह बात सुनी तो कहा—"बीदणी तो लोगों ने तमाखू पीणे से बरजे है तो मैं किया पीऊं?" बस उसी दिन से उन्होने तमाखू पीना छोड़ दिया।

केवल कुटुम्बियो को ही नही, घर के जोशी तथा नौकरो को भी दर्द होता था। यो घर के जोशीजी एक प्रकार से कुटुम्ब के ही माने जाते थे। वह खादी तो सेठजी के साथ शुरू से ही पहनते थे। हमारे कुटुम्ब के सिवा दान-दक्षिणा उन्होने कभी और किसीसे नही ली। उनको जब मालूम हुआ कि घूघट छोड़कर में बाहर काग्रेस के काम से घूमने लगी हूं तो वह मेरे सामने आने से घबराने लगे। जिधर से मैं निकलती, उधर छिप जाते कि कही मै बोल न लू। उन्होने कहला दिया कि मेरे सामने सेठानी जी न आवें और न बात करें, नही तो मैं या तो कुएं में गिर जाऊंगा या वर्धा ही छोड़ दूंगा। जोशीजी परम्परा-प्रिय थे और घूंघट में ही वह प्रतिष्ठा देखते थे। मैंने भी अबतक उनसे बात नहीं की। उनको मैं भी टाल ही देती हूँ।

जोशीजी मन्दिर में कोठार का काम देखते थे, लेकिन जब मंदिर में हरिजनो का प्रवेश हुआ तब उन्होने बड़े दुःख के साथ मन्दिर को छोड दिया और करीब पच्चीस साल तक मन्दिर में पैर भी नही रखा। खादी तो नही छोड़ी, लेकिन गांधीजी की भरपेट बुराई करते रहे। गांधीजी के स्वर्गवास के बाद गाली आदि देने में कमी हो गई और खुशी की बात है कि अभी-अभी जमनालालजी की ग्यारहवी श्राद्ध-तिथिके दिन से जोशी-जी मन्दिर में भी आने लगे। अब वह कहते हैं, "मुझे सेठजी की प्रेरणा ही मन्दिर में ले आई।" जमनालालजी के लिए गांधीजी की निन्दा बरदाश्त से बाहर थी। फिर भी वह इन जोशीजी तथा इनके परिवार को तो अत-तक निभाते ही रहे और अब भी निभाया जा रहा है; क्योंकि इन जोशी-जी ने कभी कोई कमाई का काम नही किया। हर आदमी में सरलता होती है, पर सस्कारों और रूढियो के कारण वह कभी-कभी ढक जाया करती है। समय और परिस्थिति की अनुकूलता से ही विकास होता है। मुझे उस दिन जोशीजी के मन्दिर जाने की बात से बड़ी खुशी हुई।

इसी तरह हमारे यहाँ छोटूजी नाम का रसोइया था। १४ साल की उम्र से हमारे यहाँ काम करता था। सारी उम्र हमारे ही यहाँ बिता दी। वह भी घर का-सा ही था। घर का इतना खयाल रखता था कि कहता, "बच्छराजजी घोत दोरो कमायो है, सेठजी लुटाय रया है। सेठजी में काई समझ है, या गांधी टोपीवाला बेने बिगाड़ देसी।" मुझे कोठार तक में घुसने न देता। कहता, "अठे गरमी है, थे ऊपर चालो।" पीछे कहता, "ये वामणियां आई, ठगने ले जासी।" उसे मेरे तथा बच्चों के खाने-पीने का बहुत खयाल रहता था। पर वह दूसरों को भी ऐसे खिलाता जैसे वे घर पर ही खा रहे हों। भले ही सौ आदमी आ जायँ, पर अकेला भोजन करा देता। कभी 'ना' न कहता। वह कहा करता—"सेठजी को घर भर्यो पड्यो है, अठे नहीं क्यू ?" थोड़ी-थोड़ी सब चीज वह घर में सम्हालकर रखता। कभी आदमी ज्यादा आ जाते और साग कम पड़ जाता और जीमनेवाला साग मांग लेता तो वह 'ना' न कहकर दाल या कढी परोस देता। जीमनेवाला कहता कि दाल नहीं चाहिए, साग चाहिए, तो फिर दाल या कढी डाल देता। अन्त में माँगनेवाला थक जाता, पर वह 'ना' तो कहता ही नहीं था।

जब मैं प्रसूती के समय चौके में नहीं जीमती थी तब वह ऊपर मेरे कमरे में थाली देने आता। नर्स या डाक्टरनी कहती, "महाराज, अन्दर ले जाओ।" पर मेरे सोते रहते वह अन्दर कैसे आए? और थाली वह दूसरे को देना नहीं चाहता था, क्योंकि उसे डर रहता था कि कहीं नजर न लग जाय। इसलिए आटा ढँकने का कपड़ा लाता, उससे अपनी आँखें ढक लेता और थाली रखकर चला जाता। मेरी तरफ देखता भी नहीं था।

: १८ :

मेरी ननद और उनके बच्चे

मेरे तीन ननदें थी। तीनों ही मुझसे छोटी थीं। एक जो दातारामगढ़ ब्याही थी, विवाह के बाद एक बच्चा होने पर चल बसी। वह बच्चा भी न रहा। बाकी की दो ननदों में से एक केशरबाई और दूसरी गुलाबबाई थी। गुलाबबाई का विवाह लोसल के श्री डेडाराजजी खेतान से हुआ था। उनके कोई बाल-बच्चा नहीं हुआ। केशरबाई की शादी करीब १२ वर्ष की उम्र में जोरावरमलजी पोद्दार फतेहपुरवालों के साथ हुई। वे लम्बे, सुडौल, सुन्दर और भले स्वभाव के थे। अपनी विधवा चाची की गोद गये थे। फतेहपुर में ही चाची का पीहर था। चाची का नाम भूरीबाई था। भूरीबाई के पीहरवाले भी धनी थे और भूरीबाई के पास भी धन था। वे शक्की और तेज स्वभाव की थीं। उन्हें सदा यही शक रहता कि गोद का लड़का कहीं उनके असर के बाहर न हो जाय! इसलिए वे जोरावरमलजी को किसीसे ज्यादा हिलने-मिलने या बात न करने देतीं। वे किसी के साथ प्रेम से रहें, यह भी उन्हें न सुहाता। विवाह के बाद लड़का अपनी पत्नी के कहे में न हो जाय, इसलिए वह पहले ही से अपनी बहू की बुराई करने लगी। जोरावरमलजी को केशरबाई से बात भी न करने देतीं। कहतीं, "यह तो गावड़े की है। इसमें कुछ भी अक्ल नहीं है, मूर्ख है।" केशरबाई से बहुत काम करवातीं, उन्हें कष्ट भी देती। इस तरह चार-पाँच वर्ष निकल गये। केशरबाई कुछ भोली थी। उनका सारा बचपन काशीवास में ही बीता था।

जमनालालजी को अपने कुटुम्बियों को हमेशा सुखी बनाने की इच्छा रहती। केशरबाई के कष्ट की वजह से उनके माता-पिता को भी क्लेश बना रहता। उसको हलका करने के लिए वे हमेशा ही प्रयत्न किया करते।

केशरबाई पर होने वाले अन्याय से घर के सारे लोग दुखी थे। यही नहीं था। भूरीबाई ने जोरावरमलजी का दूसरा ब्याह करने का निश्चय कर लिया। जब यह बात मालूम हुई तो जमनालालजी ने सीकर के रावराजाजी को तार देकर विवाह को रुकवा दिया और जोरावरमलजी का केशरबाई से मेल-मिलाप कराने के लिए देश गये। सीकर में रहकर इन्होंने अनेक प्रयत्न किये, लेकिन कोई सफलता न मिली; क्योंकि भूरीबाई ने उनकी बात जोरावरमलजी से होने ही न दी। हताश होकर जमनालालजी सीकर से कुछ पंचों को लेकर फतेहपुर गये। दो महीने तक सब तरह से कोशिश की, मिन्नतें की, पर भूरीबाई टस-से-मस न हुई। जोरावरमलजी का घर से बाहर निकलना कतई बन्द कर दिया गया। यह बहाना बताती रही कि जोरावर 'मधुरा' (विषम ज्वर) से बीमार है और यह डर बताकर कि कहीं किसी को 'छोत' न पड़ जाय, किसीको घर में भी नहीं आने देती।

राजवाले गांव के लोग, यहांतक कि जोरावरमलजी के जन्म के माता-पिता, बड़े सज्जन थे और जमनालालजी के पक्ष में थे, लेकिन थे लाचार। करते भी क्या ? एक तो भूरीबाई तेज स्वभाव की थी और फिर रही विधवा! वे बुरी-बुरी गालियां देती रहती। सभी चाहते थे कि समझा-बुझाकर कोई रास्ता निकल आवे तो अच्छा। जब कोई भी प्रयत्न सफल होता दिखाई न दिया तो राजवालों ने एक युक्ति रची। भूरीबाई पीहरवालों के यहाँ आती-जाती थीं। एक रात को पचास राजपूतों को लेकर जमनालालजी गये, साथ में हमारी नौकरानी को भी लेते गये। उसने दरवाजे के पास जाकर 'भूरीबाई-भूरीबाई' करके आवाज लगाई। भूरीबाई ने यह समझकर कि उनके पीहर से कोई ब्राह्मणी आई है, जोरावरमलजी को दरवाजा खोलने को कहा। जोरावरमलजी ने दरवाजा खोलकर ज्योंही एक पैर आगे को रक्खा कि जमनालालजी ने उनका हाथ पकड़कर बाहर खींच लिया और राजपूत उन्हें घेरकर अपने डेरे पर ले जाने लगे। कुछ गड़बड़ी की आहट सुनकर भूरीबाई बाहर आईं और जब उन्होंने देखा कि जोरावरमलजी को ले जा रहे हैं तब बड़े जोरों से चिल्लाने लगी, "बेटा तू कहाँ जावे है ?" और पीछे हो लीं। जोरावरमलजी अपनी मां को ढाढस बँधाने के लिए बोले, "माँ, तू आगे मत आ

आव। म्हार साग म्हारो सालो है।" जोरावरमलजी बड़े संकोची और शर्मीले थे, पर भूरीबाई कैसे मानती ? वह रोती-चिल्लाती और बीच-बीच में गालियाँ देती पीछे-पीछे आने लगी। गालियों से उत्तेजित होकर कुछ राजपूतों ने उन्हें डाँटा। पर जमनालालजी ने बीच में पड़कर स्थिति सभाली। ये लोग अपने डेरे—हीरालाल रामगोपाल के नोरे में आ गये। जोरावरमलजी को जमनालालजीने अपने चौबारे(कमरे)में ही साथ सुलाया। नीचे पहरा था ही। काफी देरतक भूरीबाई चिल्लाती रही, लेकिन उसका कुछ असर न हुआ। फिर वह थाने में गई, पर वहाँ भी उनकी कोई सुनवाई नहीं हुई तो दुबारा आकर जब वह रोने लगी तो जमनालालजी को दया आ गई। उन्होंने पूछा कि वे क्या चाहती हैं। भूरीबाई बोली, "मुझे मेरे बेटे का मुंह दिखा दो।" यह पूछने पर कि फिर तो चली जाओगी न, उन्होंने कहा कि मुझे एक घंटा उनसे बात करने दो। दुबारा पूछने पर कि बाद में तो चली जाओगी न, भूरीबाई बोली, "मेरे घर एक घंटा बात करने को जोरावर को भिजवा दो। बाद में मैं वापस भिजवा दूंगी।" तब चार आदमियों को साथ देकर जोरावरमलजी को भूरीबाई के साथ उनके घर भिजवा दिया और बातचीत करवाकर वापस बुलवा लिया।

जमनालालजी दूसरे दिन ही सीकर और वहाँ से वर्धा के लिए रवाना हुए। केशरबाई और मैं तो रथ में बैठी। जोरावरमलजी और जमनालालजी ऊँट पर चढ़े। भूरीबाई कुछ दूर तक पीछे-पीछे आईं और कहने लगी, "हे जमनालालजी, अब थारी भेणने राजी राखसुं। थे जोरावर ने और थारी भेण ने म्हारे पास छोड जाओ। म्हे थारी गाय हूँ।" जमनालालजी ने कहा, "माजी, एकबार तो म्हानें वर्धा जाण दो। फेरूं थारे कन्हे भेज देस्या।" हम लोग सीकर आये। वहाँ मेरे सास और ससुर का आशीर्वाद लेकर वर्धा के लिए चल पड़े।

वर्धा में मैंने केशरबाई को अच्छी तरह से नहलाना-धुलाना, रंगीन छापे की साड़ियां पहनाना और ठीक ढंग से रहना आदि शुरू करवाया। यों तो दोनों में कुछ बात थी नहीं, पर सारा अड़गा भूरीबाई का खड़ा किया हुआ था और धीरे-धीरे दोनों प्रेम से और अच्छी तरह से रहने लगे। एक-आध महीने के बाद ही भूरीबाई वर्धा आई और गाँव में अलग रह-

कर यह कोशिश करने लगी कि जोरावर-केशर को उनके साथ भेज दिया जाय; लेकिन उनकी बात नहीं मानी गई। कुछ दिन बाद जमनालालजी ने ही सोचा कि जोरावरमल और केसरबाई को एक बार भेज देना ठीक होगा। उन्होंने जोरावरमलजी को जाने के लिए कहा। जाते समय जमनालालजी ने जोरावरमलजीसे कहा, "तुम्हारी मा को और केशर को ठीक ढग से रखने की जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर है। थोड़े रोज देश रहकर तुम दोनों को लेकर बम्बई चले आना। वहाँ व्यापार-धन्धा करने का कुछ सोचेंगे।"

कुछ महीने देश में रहकर वे बंबई आये। पाच छः साल तक वे वहाँ रोजगार करते रहे और बीच-बीच में देश जाते-आते रहे। इसी बीच मे उनके तीन बच्चे हुए। उनके नाम प्रह्लाद, नर्मदा और श्रीराम रक्खे गये। बाद में उन सबको वर्धा बुला लिया गया। इन लोगों के वर्धा आने से हमें बड़ी खुशी हुई। मैं शादी के बाद अकेली ही रहती थी। जब मैं अपने ममिया ससुर बिरदीचन्दजी पोद्दार के घर जाती तो उनका घर भरा-भरा लगता। केशरबाई के आजाने से हमारे घर में मेरे तीन और केशरबाई के तीन, ऐसे छः बच्चे हो गये। घर में चहल-पहल हो गई और घर भरा-भरा भी लगने लगा तथा केशरबाई के रहने से मेरा अकेलापन दूर हो गया। मै केशरबाई को पढाना-लिखाना और सीना-पिरोना बड़े चाव से सिखाने लगी और गाँव की दस-पांच दूसरी लडकियाँ भी आने लगी।

मैं चौके में से ऊपर ही भोजन मगवा लेती और सब बच्चों को साथ बैठाकर खिलाती। प्रह्लाद सबसे सुन्दर था। उसके चेहरे को देखती तो यह बहुत ही सुहावना लगता। बच्चों की पढ़ाई घर पर ही शुरू हुई। पढ़ने का कमरा अलग से बनाया गया। एक पंडित तो घर में ही रहते थे। बाहर से भी मास्टर पढ़ाने आते। इस तरह सबका समय आनन्द से बीतने लगा।

एक बार जमनालालजी कहीं बाहर गये हुए थे। इसी बीच जोरावरमलजी बीमार हो गये। उन्हे विषम ज्वर हो गया। बालारामजी चूड़ीवाले जमनालालजी के ममेरे भाई थे। सबसे बड़े और समझदार थे। उनकी सलाह से वैद्य का इलाज चला। इलाज में किसी प्रकार की कमी नही रखी गई, फिर भी जोरावरमलजी की तबीयत दिनो-दिन बिगड़ती ही गई। हम सब

हुआ और मैं नौकर-चाकरों को धमका देती। जमनालालजी के सामने भी कोई शिकायत जाती तो वे केशरबाई के बच्चों का ही पक्ष लेते। लेकिन समय पाकर मेरे मन पर भी कुछ असर होने लगा और कभी-कभी ऐसा लगता कि जमनालालजी से लेकर सभी घर के लोग केशरबाई के ही बच्चों का पक्ष लेते हैं। इस तरह के भाव मेरे मन में जब आते तो मैं उनको हटाने का प्रयत्न करती। मेरे मन में यह डर भी बना रहता कि किसीको मालूम न हो कि इस तरह का भाव भी मेरे मन में आया है। इस वजह से मैं किसीसे कहती भी नहीं थी। मन में इससे एक संघर्ष शुरू हुआ और उससे मेरी ननद के साथ में मेरा जो स्वाभाविक प्रेम था, उसमें कुछ कमी आई। यह तो मैं भी समझती थी कि केशरबाई पर तो दुख पड़ा है और मेरे तो सब कुछ है। इसलिए भी उनके या उनके बच्चों के लिए कुछ अधिक किया जाय तो वह सब प्रकार से उचित है। यह सम्भव है कि प्रारम्भ में ही यह सारी बात मुझे विश्वास में लेकर मेरे ऊपर छोड़ दी जाती तो मेरे मन पर किसी प्रकार की बुरी प्रतिक्रिया न होती। जमनालालजी का दिल निर्मल था और हेतु साफ। कई बार वे धर्म-संकट में पड़ जाते और दूसरी तरफ से भी गलती होती तो भी मुझको ही समझाते और उसका मुझपर असर भी होता। लेकिन उन्हें महीनों बाहर जाना पड़ता और धीरे-धीरे उनका बाहर रहना अधिकाधिक होने लगा। थोड़ा-बहुत घर में रहते भी तो अधिकतर समय दूसरे कामों में लगा रहता। घर के कामों के लिए या बच्चों से बात करने के लिए उन्हें फुरसत भी नहीं मिल पाती थी। कभी थोड़ा समय होता भी तो मुझे यह ख्याल होता कि वे थके हैं, उनको घर की बातों में डालकर और कष्ट क्यों दिया जाय। इस प्रकार महीनों-के-महीने और कभी-कभी तो साल-के-साल भी बिना इस तरह की बात किये गुजर जाते। यह भी एक विशेष कारण था, जिससे हम लोगों में गलतफहमी पैदा होती और हमारे प्रेम में विशेष अन्तर आता गया। मेरे स्वभाव में अपने-पराए का इतना ख्याल नहीं था, फिर भी एक प्रकार की कंजूसी थी। मेरा दिल जमनालालजी की तरह उदार नहीं था और कभी उदारता दिल में आ जाती तो भी वह सदा-सर्वदा उनकी तरह टिकती नहीं थी। गुस्सा

नी मुझमें विवेक था और सहन-शक्ति की भी कुछ कमी थी। मेरे स्वभाव में ये स्वाभाविक दोष थे और मेरी ननद की भी कुछ व्यक्तिगत कमजोरियां थीं। घर के अन्य लोगों ने और नौकर-चाकरों ने भी, खास करके जमनालालजी की अधिकतर लम्बी गैर-हाजिरी की वजह से हमारी इन त्रुटियों से गलत-फहमी को बढ़ाया और उससे अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न किया।

संस्कार तो हमको पूज्य बापू, विनोबा और जमनालालजी के मिले थे और वे सभी तरह से अच्छे थे, लेकिन स्वभाव के दोष भी उतने ही प्रबल थे। विचारों से बात समझ में आती थी, फिर भी वृत्तियों को उनके अनुकूल करना आसान न था। जब इन लोगों में से किसीका भी सतत् सम्पर्क लम्बे अर्से तक न रहता तो मेरी कमजोरियां मुझे आकर दबा लेतीं। इन्हीं सब कारणों से मेरे अहंकार को चोट लगी। मैं अपने आपको पूरी तरह सम्भाल न सकी और मुझे भी यह भेद-भाव कुछ अंश में ही सही, स्पर्श कर गया। फिर भी सबके लिए चीज एक-सी ही आती, परन्तु विचारों में जो एक प्रकार की निर्मलता थी, वह न रही। ऐसा विचार भी आता कि सबके लिए चीज एक-सी ही बनानी पड़ेगी तो सादी ही क्यों न बना ली जाय। यों तो घर का वातावरण ही ऐसा था कि गहना-गाठा पहनने का चाव किसी बच्चे को न था, पर मेरे मन में यह भी भाव आ जाता कि घर के बच्चों के लिए बनाये हुए गहने तो घर में रह जायंगे, लेकिन केदारबाई के बच्चों का बनाया हुआ वक्त पर घर में थोड़े काम आयगा।

यह बात सही है कि मेरी आदतें कुछ संकुचित थीं, लेकिन फिर भी मेरे मन में कभी यह विचार नहीं आया कि मेरे बच्चे और मैं तो जेवर पहनें और केदारबाई और उनके बच्चे न पहनें। मेरे मन में कुछ अपने-पराये का भाव पैदा हो जाने के बावजूद भी मैं उसे हमेशा बुरा समझती थी और बच्चों पर उसका असर न हो, इसका ध्यान रखती थी। बच्चों पर अच्छे-से-अच्छे संस्कार पड़ें, यह मेरी बराबर इच्छा थी। विचारों के अनुसार तो मुझे यही कबूल था और इसी तरह का मेरा प्रयत्न भी रहता लेकिन स्वभाव की कमियों की वजह से जितना सुन्दर वातावरण बनाने

की इच्छा रखती, वह न बन पाता। कई बार मैं ऐसा भी सोचती कि अपना मन बड़ा कर लूँ और पहले की तरह ही भेदभाव न रखकर बरतूँ, पर कोई ऐसी बात हो ही जाती, जिससे अपने विचारों के अनुसार चलने मे अड़चन आ जाती।

केशरबाई को भी कोई खास लोभ न था और न वे मुझे दुखी बनाना चाहती थी। नौकर-चाकरों की वजह से इस तरह का कुछ दूषित वातावरण बन गया तो वे जमनालालजी से कहती, "भाईजी, मुझे अलग रहने दीजिये। मैं अपना १००) महीने में खर्च चला लूँगी, पर मुझे नौकरों की झंझट से छुड़ाइये। भाभी को भी कष्ट रहता है यह अच्छा नहीं।" पर जमनालालजी को बहन और उनके बच्चों के अलग रहने की कल्पना भी असह्य थी। उनका हमेशा यही प्रयत्न रहता कि हम दोनों ननद-भौजाई प्रेम से मिल-जुल कर रहें। वे भी यह नहीं चाहते थे कि मैं दुखी होऊँ। सभी अपनी-अपनी तरफ से दूसरों के सुख और भावनाओं का ख्याल रखते लेकिन फिर भी व्यवहार मे कुछ ऐसी स्थिति पैदा हो गई थी, जिससे सभी को कुछ-न-कुछ असंतोष ही रहता। हमारी आपस की गलतफहमी साबरमती आश्रम में अधिकतर लम्बे अर्से तक साथ रहने से बढ़ी और जब वर्धा आकर बजाजवाड़ी में रहने लगे तब वह और भी ज्यादा हो गई। बीस-पच्चीस साल तक हम लोग इकट्ठे रहे। अब बच्चे भी बड़े हो चुके थे। जमनालालजी का भी जेल अथवा अन्य कामों की वजह से घर में कम ही रहना होने लगा। यह भी एक बड़ा कारण था, जिससे हम लोगों की सहन-शक्ति कुछ कम हुई।

जमनालालजी का मन बड़ा था। वह हमेशा यह चाहते कि मेरे बच्चों से भी मेरी बहन के बच्चों का अधिक ख्याल रखें। इसमें उनको चाहिए, जैसी सफलता नहीं मिल पाई। मेरी इच्छा यह रहती कि उनके कहने पर सबकुछ अर्पण कर दूं, लेकिन प्रारम्भ में पैदा हुई छोटी-छोटी बातें, स्वभाव-सी बन गईं और हम सबको उन्होंने विवश कर दिया।

मेरे ससुर कनीरामजी कहते, "केसर, तू जमन की बात मत सुन, दुख पाओगी।" बात यह थी कि कुछ तो व्यवहार की दृष्टि से वे यह मानते थे कि केशरबाई अपने भाई पर भरोसा करने की जगह मुझपर भरोसा

करके अपना वर्ताव करे तो उनके हित में होगा, क्योंकि घर के काम-काज में आखिर स्त्रियाँ ही जो कुछ करें वह होता है। दूसरी बात मेरे दिमाग में यह भी थी कि इन्होंने अपने भतीजे राधाकृष्ण को आश्रम में भर्ती करा रखा था। राधाकृष्ण कहता था कि मुझे विवाह नही करना है और उसके विवाह सम्बन्ध की जमनालालजी कोशिश भी नही करते थे। इससे स्वाभाविक ही यह डर हो जाता कि कहीं जमनालालजी प्रह्लाद और कमल को भी कुँवारा ही न रक्खें। प्रह्लाद बड़ा था। जब वह देश में गया तो वहाँ पर उसकी सगाई जमनालालजी से बिना पूछे ही करदी। वह सगाई उन्होंने छुड़वा दी। एक तो लड़की पढ़ी-लिखी न थी और वे लोग पुराने विचारों के थे, दूसरे लड़की कुछ बड़ी थी और प्रह्लाद उस समय बच्चा ही था। जब प्रह्लाद और कमल सगाई के लायक हुए तो जितनी भी सगाइयाँ आईं पहले प्रह्लाद के लिए चर्चा की गई। उसका सम्बन्ध श्री सीतारामजी सेकसरिया की लड़की पन्ना के साथ किया गया। फिर नर्मदा और मदालसा के सम्बन्ध की बात थी। मदालसा तो फक्कड़ थी और विवाह भी करेगी कि नहीं, इसका भरोसा तक न था; फिर भी जितने सम्बन्ध आये, जमनालालजी ने पहले नर्मदा को बताये। नर्मदा के लायक सम्बन्ध ठीक हो गया, उसके बाद ही मदालसा का सम्बन्ध निश्चित करने में सहूलियत हुई।

इस बीच बजाजवाड़ी में ही केशरबाई और उनके बच्चों के लिए एक मकान बनवा दिया, जिससे वे अपनी शादी-शुदा बच्चों के साथ स्वतन्त्ररूप से रह सकें और बजाजवाड़ी में ही होने की वजह से हम सबके नजदीक भी थे। कुछ वर्षों तक तो केशरबाई उसमें रहीं। बाद में बच्चों के काम की वजह से बम्बई और कलकत्ते रहना पड़ा, इसलिए केशरबाई ने मकान दे देने के लिए इच्छा बताई और वह मकान मेहमानों के लिए ले लिया गया।

जब मैं अपने पिछले जीवन की सारी बातों को मन में दुहराती हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे कितनी क्षुद्र बातें होती थीं, जिनकी बदौलत आपस में गलतफहमी पैदा होती थी और क्लेश का कारण बन जाती थी। थोड़ी समझदारी और विवेक के साथ छोटी-मोटी बातों को दुर्लक्ष करके कुछ सहन कर लिया जाय तो आपस का प्रेम, सद्भाव और आदर उससे बढ़ता है और उसमें एक प्रकार का अपूर्व समाधान और सुख मिलता है।

बन्द रखने की भी हमारी आदत नहीं थी। आश्रम में हम कोठार से सामान लाते और इधर-उधर रख देते, पर कुत्ते आते और सामान ले जाते। इस तरह कुत्ते हिल गए। एक दिन हमारा एकादशी का व्रत था। शहर आश्रम से चार मील दूर था। नौकर फल वगैरा लेने शहर गया। शाम हो रही थी। मैंने और मेरी ननद गुलाबबाई ने सोचा कि कुएँ से पानी ले आवें। अन्धेरा होने जा रहा था। आश्रम की दौड़धूप में भूख जोर से लगती थी। बरामदे में सब तैयारी करके रखी कि भगीरथ फल लेकर आए तो फलाहार करें। इतने में रामकृष्ण ने पानी में चप्पल डाल दी। वह उस समय तीन-चार वर्ष का था। अब अन्धेरे में पानी लेने कौन जाय? आँखों पर हाथ धरकर पानी की चिन्ता करने लगे। इतने में कुत्ता आया और सामने रखा दूध लप-लप करके पीने लगा। अब दूध कहाँ मिलेगा, यह चिन्ता कर ही रहे थे कि दूसरा कुत्ता सूखे अजीर की माला लेकर भाग गया। एक तीसरा कुत्ता आया और वह पपीता ले भागा। एक तो एकादशी के फलाहार की गड़बड़ी, दूसरे सन्ध्या की प्रार्थना का समय हो गया था। अजीब परेशानी हो गई।

रात को बरामदे में हम सब और पाँचों बच्चे जमीन पर ही सोते थे। सबके लिए खटिया का मिलना कठिन था और यों हमें भी खटिया की इच्छा नहीं थी, पर साँप-बिच्छू का डर तो बना ही रहता था। सुबह की प्रार्थना में जाते समय हम बच्चों को कपड़े ओढ़ाकर जाते। जब प्रार्थना से लौटकर आते तो उनके पास रोगी खुजलीवाले कुत्ते सोए हुए नजर आते देखकर बड़ी सूग चढ़ती।

रसोई-घर को बन्द करके रखने की भी हमारी आदत नहीं थी। मक्खन निकालकर तपेली में रखकर कोठार में दूसरा सामान लेने जाती कि कुत्ते आकर मक्खन ले जाते। मक्खन की तपेली देखने जाती कि गुड़ का डला दूसरा कुत्ता ले भागता। गुलाबबाई थी तो बड़ी होशियार, पर आश्रम के नवीन जीवन में उनकी अक्ल और शरीर भी काम नहीं देते थे। एक दिन आश्रम की वेलाबहन दोपहर का खाना-पीना निपटने पर हमारे यहाँ आई। आते ही उन्होंने कहा, "अबतक तुम लोगों का भोजन भी नहीं हुआ। चलो, मैं रोटी बना देती हूँ।" इसपर

: १८ :

साबरमती-आश्रम में

नागपुर के झण्डा-सत्याग्रह के बाद हम लोग साबरमती-आश्रम में रहने के लिए गए। जमनालालजी ने सोचा कि आश्रम में रहने से बालकों को विकास के लिए अच्छा शिक्षामय वातावरण मिलेगा, हाथ से काम करने का अभ्यास होगा और मैं भी कुछ घर-गृहस्थी के काम सीख सकूँगी।

पीहर में तो मुझे कोई काम नहीं करना पड़ा और वर्धा में सारे काम नौकर ही करते थे। इस तरह मेरे जीवन में व्यवस्था आई ही नहीं। जमनालालजी भी मेरी आदतों और कमजोरियों को जानते थे और इस कारण हैरान भी थे। मेरी ननद केशरबाई तो हमेशा ही विनोद में कहा करती—"राम मार्यो विधाता भूलगो तनै मोट्यारा की जगा लुगाई बणा दी," (विधाता ही चूक गया जिसने तुझे पुरुष की जगह स्त्री बना दिया)। इसीलिए जमनालालजी ने साबरमती जाने का विचार आने पर बापूजी से कह दिया था कि आश्रम के नियमों के अनुसार जानकीदेवी का निभाव कठिन होगा। यही कारण था कि सारी बातों का विचार करके बापू ने आश्रम की हद के बाहर, लाल बँगले के पास एक मकान दिया और कहा कि अलग मकान में रहने से जानकीदेवी सारे नियमों की पाबन्दी से बच सकेगी और निकट सम्पर्क के कारण वातावरण का लाभ मिलेगा और धीरे-धीरे नियमों के पालन की ओर बढेगी।

हमने सुना था कि आश्रम में तो सांप-बिच्छू आदि किसी भी प्राणी को मारा नहीं जाता है। वहाँ कुत्ते भी बहुत थे। हर क्षण कुत्तों से परेशानी रहती थी। मेरी परेशानी तो और भी अधिक थी। वर्धा में हम ऊपर बंगले में रहते थे, नीचे चौक में पहरा रहता था। दरवाजे आदि

बन्द रखने की भी हमारी आदत नहीं थी। आश्रम में हम कोठार से सामान लाते और इधर-उधर रख देते, पर कुत्ते आते और सामान ले जाते। इस तरह कुत्ते हिल गए। एक दिन हमारा एकादशी का व्रत था। शहर आश्रम से चार मील दूर था। नौकर फल वगैरा लेने शहर गया। शाम हो रही थी। मैंने और मेरी ननद गुलाबबाई ने सोचा कि कुएँ से पानी ले आवें। अन्धेरा होने जा रहा था। आश्रम की दौड़धूप में भूख जोर से लगती थी। बरामदे में सब तैयारी करके रखी कि भगीरथ फल लेकर आए तो फलाहार करें। इतने में रामकृष्ण ने पानी में चप्पल डाल दी। वह उस समय तीन-चार वर्ष का था। अब अन्धेरे में पानी लेने कौन जाय? आँखों पर हाथ धरकर पानी की चिन्ता करने लगे। इतने में कुत्ता आया और सामने रखा दूध लप-लप करके पीने लगा। अब दूध कहाँ मिलेगा, यह चिन्ता कर ही रहे थे कि दूसरा कुत्ता सूखे अंजीर की माला लेकर भाग गया। एक तीसरा कुत्ता आया और वह पपीता ले भागा। एक तो एकादशी के फलाहार की गड़बड़ी, दूसरे सन्ध्या की प्रार्थना का समय हो गया था। अजीब परेशानी हो गई!

रात को बरामदे में हम सब और पाँचों बच्चे जमीन पर ही सोते थे। सबके लिए खटिया का मिलना कठिन था और यों हमें भी खटिया की इच्छा नहीं थी, पर साँप-बिच्छू का डर तो बना ही रहता था। सुबह की प्रार्थना में जाते समय हम बच्चों को कपड़े ओढ़ाकर जाते। जब प्रार्थना से लौटकर आते तो उनके पास रोगी खुजलीवाले कुत्ते सोए हुए नजर आते देखकर बड़ी सूग चढ़ती।

रसोई-घर को बन्द करके रखने की भी हमारी आदत नहीं थी। मक्खन निकालकर तपेली में रखकर कोठार में दूसरा सामान लेने जाती कि कुत्ते आकर मक्खन ले जाते। मक्खन की तपेली देखने जाती कि गुड़ का डला दूसरा कुत्ता ले भागता। गुलाबबाई थी तो बड़ी होशियार, पर आश्रम के नवीन जीवन में उनकी अक्ल और शरीर भी काम नहीं देते थे। एक दिन आश्रम की बेलाबहन दोपहर का खाना-पीना निपटने पर हमारे यहाँ आईं। आते ही उन्होंने कहा, "अबतक तुम लोगों का भोजन भी नहीं हुआ। चलो, मैं रोटी बना देती हूँ।" इसपर

में राजी हो गई। मैं बेसन पीसकर लाई, तब जाकर कढ़ी बनी। बेला बहन रोटी बनाकर जाने लगी कि इतने में एक कुत्ता लपककर, जितनी उसके मुंह में आई उतनी रोटी लेकर, भाग गया। हम सब पहले दिन के भूखे थे, बची रोटियां खाकर भूख बुझाई। बेला बहन ने ये सारी बातें किशोरलाल-भाई से कहीं। उन्होंने अपने गुरु नाथजी (केदारनाथजी) से कहा कि आप जाकर देखिए। जमनालालजी स्वयं तो नौकर को लेकर घूम रहे हैं और स्त्री-बच्चों को बिना रसोइया और नौकर के छोड़ गए हैं। मैं समझती हूं कि जमनालालजी जानबूझकर ऐसा करते थे, क्योंकि वह कहा करते थे कि स्त्रियों को अपने पर भी रसोई बनानी तो आनी ही चाहिए। मुझे रसोई बनानी आ जाय इसी दृष्टि से वह रसोइये को अपने साथ ले जाते थे।

नाथजी ने आकर देखा कि दो कुत्ते एक कमरे में और दो दूसरे में और बाकी बरामदे में हाजिर हैं। उन्होंने छोटे-छोटे पत्थरों का ढेर इकट्ठा किया और कुत्तों पर फेंकना शुरू किया। वे पत्थर इस प्रकार फेंकते थे कि कुत्तों को चोट तो न आती, पर वे डर जाते। कुत्ते सचमुच इतने डर गए कि फिर आना ही भूल गए और हम भी यह सबक सीख गए। बच्चों को भी यह नया शस्त्र हाथ लग गया। बाहर से कठोरता और भीतर से नम्रता का यह गुण हमने प्रत्यक्ष देखा।

आश्रम में समय के अनुसार बार-बार घंटियां होती थीं, लेकिन हमें समय का कोई भान न रहता था, इसलिए घंटी बजते ही दौड़धूप मच जाती और हम बिखरे बालों, अव्यवस्थित कपड़ों में ही जैसे-तैसे पहुंच जाते। हमारी यह दशा देखकर सब लोगों को दया भी आती और हंसी भी। नदी पर स्नान के लिए जाते तो बच्चों को पहले भेज देते। कमला रोती-रोती कपड़े गिराती जाती। दूसरे लोग कपड़े उठाते जाते। नदी पर हम कपड़े धोते रहते और उधर घंटी बज जाती।

एक रोज कमलनयन काका कालेलकरजी के वर्ग में जा रहा था कि रास्ते में से ही लौट आया। बोला कि रास्ते में सांप है। मैंने कहा कि सांप तो चला गया होगा। यह सुनकर कमलनयन तो वर्ग में गया; लेकिन उस रास्ते से जाने की मेरी हिम्मत न हुई। दूसरे रास्ते से ही

वर्ग में गई। मैं तो डरती थी, फिर भी चाहती थी कि बच्चे निर्भय बनें।

कुछ दिनों बाद आश्रममें अलग-अलग रसोड़ों को बंद करके एक सार्वजनिक रसोड़ा शुरू किया गया। उसमें गाय के ही घी-दूध के उपयोग का नियम था। सबकी राय से यह नियम बना था। जमनालालजी ने मुझसे कहा कि तुम वर्धा चली जाओ, क्योंकि एक तो रसोड़ा एक हो गया, दूसरे संपत्तिवाले यहाँ रह नहीं सकते। तब मैंने कहा कि संपत्ति की बात तो आप जानें, मुझे तो रसोड़े में बना-बनाया खाना मिलेगा। मेरी तो खाना बनाने की आफत ही मिटी। जब हम लोग रसोड़े में खाने के लिए जाने लगते, तब पहली घंटी पर न पहुँचने से दूसरी घंटी तक बाहर खड़े रहना पड़ता था।

मैं भोजन बहुत धीरे-धीरे किया करती हूँ। दूसरी बहनें तो भोजन करके अनाज आदि साफ करने बैठ जाती और फिर अपने-अपने यहाँ बाल-बच्चों के लिए दूध का समय होने पर दूध के लिए भी आ जाती। पर मैं तो भोजन ही करती रहती। इससे मेरा अनाज आदि साफ करने का समय भी भोजन में ही चला जाता।

एक दिन मैं भोजन के बाद दूध के लिए रसोड़े में खड़ी थी। दूसरी बहनों ने कहा कि आगे होकर ले लो। ऐसे खड़े रहने से तुमको कौन दूध देगा? धान-सफाई का समय चला गया, पर वर्ग में तो जाना ही चाहिए, इसलिए दूध लेकर जल्दी निकलना आवश्यक था। दूध की तपेली को थाली में रखकर चल रही थी, जिससे तपेली डगमग हिल रही थी। दूध के लिए मुझे मोटा खाना चाहिए था। मैं थाली को दोनों हाथों से पकड़कर चल रही थी कि सामने से गोशाला की गायों का झुंड आ गया। मैं डर गई और खेत के कांटों की बाढ के पास जाकर खड़ी हो गई। पीछे से एक गाय आई और उसने मेरे दोनों पैरों के बीच सींग डाल दिया। थाली को पकड़े मैं कांप रही थी और दूध गिर न जाय, इसकी चिन्ता भी थी। मैं तो, अब गिरी अब गिरी, हो रही थी। मुझे इतनी भी सुध नहीं रही कि कम-से-कम थाली नीचे पटककर एक हाथ तो खुलाकर लूँ। इतने में उधर से ग्वाला आ गया और उसको देखकर गाय ने आहिस्ते से सींग निकाल लिये। तब कहीं जान-में-जान आई।

उस वर्ष खूब वर्षा हुई थी। साबरमती नदी में बाढ़ आने की सम्भावना थी। सरदार पटेल बाढ़ के समाचार लेकर आश्रम में आए और बोले कि साबरमती-आश्रम खाली करने की सूचना मिली है। बापू ने प्रार्थना में सबसे यह कह दिया, "कोईने जरा पण भय लगातो होय तो ते अमदावाद शहेर मा के बीजे गमे त्यां जई शके छे, डरमाववानी जरूर नथी। अने जेने अहियां रेहवू होय ते अहियां रहे। हूँ तो अहियाज रहेवानो छू। ने ज्यारे पूर आवशे त्यारे विद्यापीठनी छत पर बैसी रघुपति राघव राजा रामनी धुन लगावशुं।" घबराहट तो सबको थी ही, परन्तु बापूजी को छोड़कर जाने को कौन तैयार होता! मुझसे भी बापूजी ने कहा कि तुम वर्धा जा सकती हो। लेकिन मैं वहीं रही।

नदी में तो इतनी बाढ़ नहीं आई, पर पानी कई रोज तक बरसता रहा। सारे आँगन में पानी-ही-पानी हो गया। ऊपर से भी पानी चूता था। बाहर निकलना भी मुश्किल था। सारे कपड़े भीग गए, चीजें भीग गईं। लक्ष्मण रसोइया रसोई बनाता था। वर्षा के पानी से ही रसोई बनाई जाती और वही पी लिया जाता। बापूजी ने कहला भेजा कि हम लोग आश्रम में ही सोवें, पर मेरी तो हिम्मत ही न हुई। आश्रम में तो सब चार बजे तड़के उठनेवाले थे, नियम से रहते थे। मैं ऐसा कहाँ कर सकती थी! किशोरलालभाई ने किसीको हमारे मकान के पास सुलाने को कहा, ताकि हम वर्षा, बिजली, आँधी में न डरें और चोरी का भी डर न रहे। पर मैंने कह दिया कि चौक में मैं सफेद चादर ओढ़कर सो जाती हूँ, सो देखने वाला यही समझेगा कि कोई आदमी सोया है। इतने पर भी कोई कुछ ले जायगा तो बरतन-कपड़े ही तो हैं।

: १६ :

आश्रम के कुछ और अनुभव

जब साबरमती रहने गये, तब वहां दूसरों को पढ़ते और आश्रम का वातावरण देखकर पढ़ने का मन होने लगा। जहां गीता का वर्ग चलता वहां गीता ले जाती। सितार के वर्ग में सितार ले जाती। बापूजी जब बहनों का वर्ग लेते तब वहां भी पहुंच जाती। बापूजी रामायण आदि धर्म-पुस्तकों में से शुद्ध लिखकर लाने के लिए कहते। मैं बड़े चाव से शुद्ध और सुन्दर लिखकर बताने का प्रयत्न करती। कापियां देखकर बापूजी निशान कर देते थे। वे कापियां अब भी मेरे पास हैं। लड़कियों के साथ साबरमती नदी में तैरना सीखने की भी कोशिश करती। मैं सीखने के हर स्थान पर पहुँचती पर पूरी जानकारी किसी भी बात में न कर सकी। आश्रम की बहनें मुझपर सदा हँसती रहती और कहती रहती कि जिस वर्ग में देखो जानकीबहन हाजिर रहती हैं। पर उन बहनों को क्या पता कि मैं जहां-की-तहां ही रहती थी। कृष्णदासभाई गांधी ने सितार की गतें सिखाईं, हारमोनियम सिखाने का भी प्रयत्न किया, संगीत सीखने की भी कोशिश की, लेकिन मेरा हाल तो यह था कि 'आगे पाठ और पीछे सपाट।' नया पाठ लेने से चूकती नहीं और पिछला याद रहता नहीं। गीता की पढ़ाई का भी यही हाल हुआ। बहुत बरसों के बाद जब विनोबाजी की गीताई मिली तब गीता का कुछ-कुछ अर्थ मेरी समझ में आने लगा।

बड़ाई के लिए या उत्साह में मैं बापूजी से कहती कि मुझे भी कुछ काम दो। बापूजी ने कहा कि यहां काम तो बहुत है। जाओ गोशाला में सफाई करो। मैंने दूसरे रोज से झाड़ू देनी शुरू की, पर इसके पहले मैंने कभी झाड़ू हाथ में ली नहीं थी। इसलिए मुझे देखकर लड़कियां हँसती और

कहतीं, "जाओ जाओ, जानकीबहेन, तमे तो काम बिगाड़ो छो।" इसी प्रकार रसोई-घर में भी लड़कियाँ हँसती थीं; कहतीं, "रेवा दो, तमे रोली वाली नाखो छो। श्रमे करी ले गूं।"

श्राश्रम में पाखाना सफाई का काम श्राश्रमवासी ही करते थे। बापू ने जीवन की साधना की शुरुग्रात भंगी के काम से ही मानी है। जिसको इस काम से ग्लानि हो, भय हो, उसका श्राश्रम में रहना श्रसम्भव था। यह मेहमानों के लिए श्रनिवार्य नहीं था।

हम लोग भी पाखाने में ही शौच जाते थे। मैंने देखा कि वहाँ तो ब्राह्मण-पंडित सब बिना हिचक के पाखाने की सफाई करते हैं। मैं भी एक दिन हिम्मत करके गई। मन में उत्साह जो था! नाक पर साड़ी लपेट ली और चली गई। मैले की बालटियाँ बाँस में डालकर दोनों श्रोर से दो श्रादमी पकड़कर खाद के गढ़े तक ले जा रहे थे। मैले पर मिट्टी की परत होने से बास श्राने या ग्लानि होने की बात ही नहीं थी। मैंने भी बाँस का एक छोर पकड़ा श्रौर डरते-डरते मुंह फेरकर उसे गढे तक पहुँचा दिया। मैंने मैला उठाने श्रौर पाखाना साफ करने का काम कर तो दिया, पर बालटी पहुँचाने के बाद लौटकर सिर से पैर तक रगड़-रगड़कर स्नान किया श्रौर गोबर लगाकर हाथ-पैरों की शुद्धि की। पाखाना सफाई का यह मेरा पहला ही मौका था।

मारवाड़ी समाज में सुहागिनें लाख की चूड़ियाँ पहनती थीं। पर जब मैंने जेवर का त्याग कर दिया तब लाख की चूड़ियाँ भी मैं नहीं पहनती थी, क्योंकि उन पर सोने की पतरी होती थी श्रौर लाख में हिंसा होती है। काँच की चूड़ियाँ पहनने लगी। पर काँच की चूड़ियाँ देशी होने से बार-बार वध (टूट) जाती थी श्रौर श्रहमदाबाद वहाँ से चार मील की दूरी पर था। जहाँ चूड़ियाँ मिलतीं, वहाँ जाने की परेशानी से बचने के लिए मैं चूड़ियों की भी परवा नहीं करती थी। श्रा जातीं तो पहन लेती, नहीं तो योंही चलता रहता। एक दिन मैं बिना चूड़ियों के, बिना बिंदी के, सफेद साड़ी पहने दरवाजे पर बैठी थी। मुझे इस प्रकार बैठी देखकर श्रनुसूया साराभाई ने डरते-डरते मुझसे पूछा—"जमनालालजी कहाँ हैं?"

मैंने कहा—"वर्धा गए हैं।"

वह बोली—"जानकीवहन, मैं तो घबरा ही गई थी तुम्हारे इस वेश को देखकर।"

"कोई चूड़ियों में ही सुहाग थोड़े रहता है !" मैंने कहा।

बापूजी की बातों और प्रभाव से गहनों का असर कम तो हो ही चला था, पर बिंदी और चूड़ियों के प्रति आग्रह तो पूज्य बा का भी था। और कोई गहना चाहे न हो, पर बिंदी और चूड़ियाँ तो सुहाग के चिन्ह माने जाते हैं। मेरे बरताव को देखकर बा यह कहा करतीं—"जानकी-बहन तो बापू को और भी बढ़ावा देती है। यह एक दिन शायद यह कह बैठेंगे—"देखो जानकीबहन को, वह तो चूड़ियाँ भी आवश्यक नहीं मानती।"

एक बार एक हरिजन ने बापू से पूछा कि क्या मेरी लड़की आश्रम में रख लेंगे और उसका पालन-पोषण करेंगे? बापू कैसे इन्कार कर सकते थे। उन्होंने 'हाँ' कहा और लड़की आश्रम में आ गई। अब बापू ने बा से कहा—"हरिलाल की लड़की मनु की तरह ही इसे सम्हालो।" बापू के सामने तो वह क्या कहतीं, पर एकदम सहम गईं। बा ने हम बहनों के बीच भोलेपन से कहा—"बापूजी कहते हैं कि लक्ष्मी को मनु की तरह रखो। उसको नहलायेंगे, खिलायेंगे, पिलायेंगे, जूँए निकालेंगे पर रोटली रसोड़ा में कैसे होगा ?" लेकिन आगे चलकर तो बा के लिए भी बापू की सब आज्ञाएँ सहज होती गईं।

एक दिन आश्रमवासियों के सामने प्रार्थना-प्रवचन करते हुए बापूजी ने कहा—"जरूरत से ज्यादा सामान पास में रखना परिग्रह है। जो अधिक हो वह आश्रम के दफ्तर में दे देना चाहिए। जिसके काम की हो, वह वहां से ले सकता है। जैसे, यदि मैं मर जाऊँ और मेरी ऐनक हो तो वह बा को अपने पास न रखनी चाहिए, दफ्तर में जमा करा देनी चाहिए। जिसके काम की होगी, वह उसका उपयोग कर लेगा।" बा ने हमारे बीच आकर कहा—"बापूजी शूं कहे छे के घणी नी वस्तु पर बायड़ी (पत्नी) नो हक न होय ?"

श्रीमती सरलादेवी चौधरानी बीमार थीं। उन्हें टायफाइड था। उनकी

सेवा के लिए भाई जमनादास गांधी नियुक्त थे। सरलादेवी ने बापू से शिकायत की कि जमनादासभाई उनकी ठीक-ठीक सेवा नहीं कर पाते। बापू ने अपने छोटे पुत्र देवदास से कहा— 'काल थी देवा तू जशे।" देवदासभाई ने कहा—"बापूजी बीजे दिवसे मारीपण शिकायत थशे त्यारे न जवुं ज सारूं।" बापूजी हँस पड़े। दोपहर को श्रीमती सन्तानम की ड्यूटी थी। उनकी भी शिकायत हुई। यह सब देखकर सेवा करने का उत्साह मुझमें जागा। मैंने बापूजी से कहा कि मैं इनकी सेवा में जा सकती हूँ क्या? बापू ने दूसरे दिन से जाने को कहा। इससे मुझे बहुत खुशी हुई। मेरे मन में, सेवा कैसे की जाती है, यह सीखने की इच्छा थी।

दूसरे दिन से मैं उनकी सेवा में हाजिर हो गई। धूप और अगरबत्ती लेकर धुपाड़े में आग रखकर मैंने उनके कमरे में सुगन्ध कर दी। मैं डर रही थी कि कहीं मुझे भी सेवा से न हटा दिया जाय! झाड़ू भी धीरे-धीरे दी। उन्होंने पेशाब का डब्बा बाहर रखने को कहा। मैंने उठाकर बाहर रख दिया। फिर चोटी बनाने को कहा। मैंने चोटी बनाना शुरू किया। उनके बाल बड़े लम्बे थे। चोटी धीरे-धीरे की कि कहीं कोई बाल खिंच न जाय। उनको अच्छा लगा। चोटी बनाते समय रोग के जन्तु मेरे शरीर में न चले जायं, इसलिए साड़ी का पल्ला नाक पर रखना चाहती थी, लेकिन डर लग रहा था।

टट्टी-पेशाब का कमोड तो मैं बाहर रख देती, पर भंगी के हाथ का धोया गीला कमोड भीतर कैसे रखूं? इस दुविधा को मैंने गोमतीबहन के सामने रखा। गोमतीबहन ने कहा कि जब आप उस काम के लिए गई हैं तब वहाँ के कपड़े अलग रखो और घर के कपड़े अलग। "कपड़े बदलना तो ठीक, पर सिर रोज-रोज कैसे धोऊँगी?" मैंने गोमतीबहन से पूछा।

उन्होंने जवाब दिया—"सिर की बात को छोड़ दो।" इस तरह मैं प्रतिदिन जाने लगी।

जब सरलादेवी को मालूम हुआ कि मैं जमनालालजी की पत्नी हूँ तो उन्होंने कहा कि पेशाब के बरतन को बार-बार मत निकाला करो। जब टट्टी हो तब एक बार ही निकाल दिया करो। इससे मुझे खुशी हुई, क्योंकि यह काम स्नान के पहले भी हो सकता था।

: २० :

पहली सन्तान

बच्छराजजी के परिवार में सन्तान की ओछत थी। कई पीढ़ियों के बाद हमारी पहली सन्तान कमला पैदा हुई थी। लोगों ने कहा कि इनके यहाँ तो लड़की भी होना महत्वपूर्ण है, पर हमारा इनाम तो गया। यह बात जमनालालजी को बहुत बुरी लगी। वह तो लड़की की इज्जत ज्यादा करते थे। उन्होंने कमला के जन्म पर खूब चाँदी-सोना-जेवर आदि नौकर-चाकरों को इनाममें बाँटे। उनकी खुशी का पार न था। कमला का लालन-पालन भी बड़े लाड़-प्यार से हुआ। मेरी पहली जचकी थी। इस कारण इनको यह खयाल था कि प्रसूति में कोई खराबी न हो। दादाभाई नौरोजी की लड़की बम्बई में डाक्टर थी। जब जमनालालजी दादाभाई नौरोजी से मिले और डॉ०माणकबाई का जिक्र आया तो इन्होंने मेरी जचकी के लिए खाना व ८००) महीने पर उसको तय कर लिया और वर्धा ले आये। उसके साथ उसके दो लड़के भी आये। मुझे याद है कि उसको सीधे में रोज एक सेर घी, आटा, दाल, चावल, चीनी, वगैरा दिया जाता था। कमला के होने पर जमनालालजी ने डाक्टर माणकबाई को बहुत-सा इनाम वगैरा दिया और खुश करके बिदा किया।

उस समय की एक बात की जब याद आती है तो बड़ी हँसी आती है। कमला को दो वर्ष की होने तक पानी नहीं पीने दिया गया। जब कभी वह कुछ पीने को माँगती तो दूध या फलों का रस ही दिया जाता। दूसरे उसे पैदल भी चलने नहीं दिया जाता था। सब उसे गोदी मे ही उठाकर लिये रहते थे। परिवार में बरसों में एक ही बालक हुआ था और पैसे से भरापूरा घर था। नौकर-चाकर और रिश्तेदार सब यही सोचते थे कि ऐसे लाड़ले बालक को क्या पानी पिलाना चाहिए? वह तो दूध या फलो का

रस ही पी सकता है। इसी तरह पैदल चलने के बारे में रहा। इस कारण कमला पैदल भी बहुत देर के बाद चलने लगी।

जब कमला चार वर्ष की हुई तो उसकी सगाई फतेहपुर के नेवटिया परिवार में रामेश्वरप्रसाद से कर दी गई। नेवटिया-खानदान समाज में प्रतिष्ठित, सस्कारी तथा सुधारक विचार का था।

जब कमला ग्यारह साल की हुई तब गाँव की स्त्रियाँ कहने लगी कि कमला का ब्याह कब होगा। समाज में बाल-विवाह प्रचलित होने से उनका कहना स्वाभाविक था। फिर वे कहती, "तुम्हारी देहली (दरवाजा) तो क्वारा ही है।[1] इसलिए इसका जल्दी विवाह कर दो।" उधर लड़के की मा की भी स्वाभाविक इच्छा थी कि बहू जल्दी घर में आवे। मारवाड़ी-समाज में छोटी उम्र में विवाह बहुतायत से होते थे। पर जमनालालजी बाल-विवाह को अच्छा नही समझते थे। इस कारण उन्होंने चौदह वर्ष की होने पर ही कमला का विवाह करने का निश्चय किया।

यो नेवटिया-परिवार वाले भी सुधारक तो थे ही जमनालालजी और केशवदेवजी ने इस विवाह को सुधारक पद्धति से तथा सादगी से करने का विचार किया। पहले यह सोचा गया कि विवाह यदि बम्बई में होगा तो उसका समाज पर अच्छा असर होगा। बापूजी ने भी उसकी सम्मति देदी। लेकिन बाद में जमनालालजी ने केशवदेवजी को साबरमती में शादी करने को राजी कर लिया। बापूजी को भी यह बात पसन्द आई। इन्होंने कहा कि आश्रम के वातावरण में शादी होने से वर-वधू पर अच्छे संस्कार पड़ेंगे। इस निश्चय से जमनालालजी को बड़ी खुशी हुई।

रामेश्वरप्रसाद के पिताजी का स्वर्गवास दो साल पहले हो गया था। उनके दादाजी रामवल्लभजी वृद्ध थे और देस में रहते थे। चाचाजी केशवदेवजी बम्बई में रहते थे। वे राष्ट्रीय विचार के थे और उनका जमनालालजी के साथ भाई का-सा सम्बन्ध हो गया था। जमनालालजी की यह इच्छा थी कि विवाह में स्त्रियाँ तथा बड़े-बूढे सब आवें और

---

१. जबतक घर में कोई लड़की ब्याही नहीं जाती तबतक देहली क्वारी मानी जाती है।

सादगी तथा सुधरे हुए ढंग से होनेवाले विवाह को देखें। इसलिए वे फतेहपुर गये और रामवल्लभ जी तथा अन्य स्त्रियाँ विवाह में आवें, इसका आग्रह किया।

बरात में स्त्रियाँ नहीं जाया करती थी और पहले बरात बनाकर आने की बात थी। फिर निश्चय हुआ कि बैठा ब्याह होगा। विवाह में समधी और समधनें आईं।

रामेश्वरप्रसाद बम्बई में मैट्रिक हो जाने पर गुजरात विद्यापीठ में पढ़ने गये थे। सरकारी कॉलेज की शिक्षा छोड़ राष्ट्रीय कालेज में शिक्षा के लिए अहमदाबाद जाना, उस समय कोई छोटी बात नहीं थी, खासकर राजस्थानी समाज में। पर यह भी केशवदेवजी के कारण ही सम्भव हो सका था। रामेश्वरजी वहाँ के वातावरण में घुल-मिल गये थे। खादी तो पहनते ही थे, विवाह के समय बागा आदि न पहनकर सादे खादी के कपड़े से ब्याहने आये।

नेवटिया-कुटुम्ब का डेरा गुजरात विद्यापीठ में था और हमारा लाल बँगले में। जमनालालजी ने मुझे वरपक्ष की स्त्रियों को विवाह के समय आने को आमन्त्रण देने के लिए भेजा। मैं गई। मुझे देखते ही वरपक्ष की औरतों ने घूँघट निकाल लिये। वे बोली, "जी क्या आवें! वहाँ आप लोग कुछ नेगचार तो करेंगे नहीं, देखें तो क्या देखें?"

मैंने आकर सब बात जमनालालजी को बताई। जमनालालजी बोले, "कोई बात नहीं, मैं वहां जाकर उनको समझाऊँगा।" जमनालालजी वरपक्षवालों के यहां गये। वहा उन्होंने रामवल्लभजी तथा केशवदेवजी से बात की। रामवल्लभजी बड़े सज्जन पुरुष थे और विचारक भी, पर अबतक उनके यहां पर्दा होता था। इसलिए उनके पोते की बहू बिना पर्दे के उनके सामने फेरे में बैठे इसमें उन्हें संकोच मालूम हुआ। पर यह उलझन बापूजी ने दूर कर दी। उन्होंने जमनालालजी से कहा कि जब वरपक्षवालों ने बहुत-से सुधार किये हैं तो एक बात उनकी भी हम मान लें।

आज तो यह बात साधारण-सी मालूम देती है, पर आज से तीस साल पहले मारवाड़ी-समाज की जो स्थिति थी उसमें तो यह क्रान्तिकारी कदम

साथ मील-मील भर घूम लेती थीं।

उनपर बापूजी का कुछ ऐसा असर हुआ कि वह बराबर खादी पहनती और खान-पान में भी फल, उबली सब्जी और नीबू का ही उपयोग अधिक करती।

कलकत्ते में कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। पं० मोतीलाल नेहरू अध्यक्ष चुने गये थे। देखने की इच्छा तो थी ही। लेकिन जब जमनालालजी ने कहा कि वहां बड़े लोगों के यहां ठहरना पड़ेगा, इसलिए बच्चों के लिए अच्छे कपड़े सिलवा लो, तब मेरी हिम्मत टूट गई। उस समय एक तो साधारण खादी ही महंगी थी, उसपर से बढ़िया खादी के कपड़े सिलाने का प्रश्न आ गया। फिर मेरे सामने यह बात भी रही कि बाद में इन कपड़ों का क्या होगा। मैंने सोचा कि मेरे न जाने से यह सारा खर्च बच जायगा। उस समय लड़की कमला गर्भवती थी। मैंने सोचा कि यदि कमला वहां चली जाय तो उसपर अच्छे संस्कार पड़ेंगे। इसलिए मैंने जमनालालजी से कमला को साथ ले जाने के लिए कहा। वह सहज भाव से उसे ले गये। लेकिन वहां अधिक घूमने-फिरने से उसकी तबियत खराब हो गई और जमनालालजी को बड़ी परेशानी हो गई। जमनालालजी को मेरा और कमला की सास का भी डर लगा होगा कि वहां जाकर क्या कहेंगे? दो-चार दिन वहां इलाज करके उन्होंने उसे वर्धा भिजवा दिया। जब मुझे यह सब मालूम हुआ तो मुझे अपनी कंजूसी और असावधानी पर बड़ा दुःख हुआ। लेकिन बाद में पछताने से क्या होता?

गई और दीखना बन्द हो गया। बापूजी ने डाक्टर से पूछा तो उसने कहा कि इसकी आंखों की ज्योति गई। अब नहीं दीखेगा। बापूजी ने आंखों पर मिट्टी बांधने को कहा। अब मैं सोचने लगी कि जोश में मैंने बापू को एक संकट में ही डाल दिया और बच्चे पर भी एक तरह से जुल्म किया। पर बापू ने प्रेम से यह संकट उठाया। अब सवाल था कि कमलनयन का क्या किया जाय? टुकड़ी में ले जाना तो असम्भव था और टुकड़ी का एक सिपाही होने के कारण वह वापस घर भी नहीं जा सकता था। अतः उसे गुजरात विद्यापीठ को रवाना कर दिया।

इधर विलेपारले-छावनी में आकर मैंने देखा कि स्त्री-पुरुषों में बहुत जोश भरा है। सभा-व्याख्यान, नमक लाने के लिए टुकड़ियों का आना-जाना, ताड़ी की दूकानों पर धरना देने आदि काम बड़े उत्साह से चल रहे थे। मैं एक ताड़ी की दूकान के सामने धरना दे रही थी। वहां एक बूढा आदमी नशे में चूर होकर ताड़ी पी रहा था। मैं उसके पास जाकर समझाने लगी कि ताड़ी मत पीओ, ताड़ी पीना पाप है। पर उसके मुंह की गंध को सहना कठिन था। फिर भी मैं समझाती रही। मुझे यह भी खयाल नहीं रहा कि नशे में आदमी को समझाना बेकार होता है।

जगह-जगह सभाएं होतीं और अच्छे-अच्छे कार्यकर्ता और वक्ता पकड़े जाते। नए-नए तैयार होने लगे। मेरी भी बोलने की बारी आई। मैं हिन्दी, मराठी, गुजराती और मारवाड़ी भाषाओं में बोलने लगी। शुद्ध तो मुझे एक भी भाषा नहीं आती थी, पर कम पढ़े-लिखे लोगों और स्त्रियों को मेरी बोल-चाल की भाषा में रस आता था। गांव-वालों को भी अच्छा लगता था। एक ही सभा में कई भाषा जाननेवाले होते थे। सभा में मुझे जिस भाषावाली बहनें सामने दीख पड़तीं, उसी भाषा में मैं बोलने लग जाती। 'अन्धों में काने राव' की तरह मेरी पूछ होने लगी। पर मेरा हाल तो भगवान् ही जानता था।

गाय के दूध का मेरा व्रत था। पर सब जगह उसका मिलना सम्भव न होता था। मैं उबला साग ही खाती। किसी तरह गाय के दही का इन्तजाम हो जाता। लेकिन भोजन-पान की अव्यवस्थितता रहती ही। उससे मेरे पेट में तकलीफ रहने लगी। दस्त भी लग गये थे। लेकिन ऐसी तबियत

हो गई। उधर पुलिस भी डण्डा लेकर तैयार थी। उन्हें शराब पिला कर निहत्थे स्वयंसेवकों पर डण्डे-लाठियाँ चलाने के लिए तैयार किया गया था। मांटिया नामक पारसी अफ़सर इनका सरदार था। स्वयंसेवकों ने नमक के डिपो पर धावा बोल दिया। चारों तरफ लोहे के तारों की बाड़ लगी हुई थी। तार काटने के लिए स्वयंसेवकों को चिमटे दिये गये थे। ज्योंही स्वयंसेवक आगे बढ़े कि पुलिस ने डण्डों की ऐसी मार मारी कि उतनी बेरहमी से जानवरों को भी नहीं मारा जाता। डण्डा लगता और स्वयंसेवक धरती पर गिर जाता। जिन्हें मार कम लगती, वे आगे बढ़ते और जिन्हें ज्यादा लगती, वे बेहोश हो जाते। गिरे हुओं को स्ट्रेचर पर ले जाया जाता। कई स्वयंसेवक तो होश में आते ही दौड़ पड़ते। डण्डों की मार के बावजूद जब स्वयंसेवक आगे ही बढ़ते रहे तब पुलिस के सरदार ने घुड़सवार को उनपर छोड़ दिया, जिससे एकदम सन्नाटा छा गया। घोड़ों की टापों और डण्डों से स्वयंसेवक गिरने लगे। साढ़े दस बजे तक लगभग सातसौ घायलों को स्ट्रेचर पर उठाकर झोंपड़ी आदि में तथा खुले मैदान में सुलाया गया। चारों ओर की जगह घायलों से भर गई। चिकित्सा की व्यवस्था थी, पर बहुत अधिक लोगों के आ जाने से जिसे जो सूझा, वही उसमें लग गया। मैं एक घड़ा पानी लेकर पहुँच गई और गीले कपड़े से आँखों पर पानी के छींटे देने लगी। *घायलों में श्री ढवण भी थे। उन्होंने होश आते ही फिर* आगे बढ़ने की तैयारी बताई। बोले—"जानकीबाई, तुम्ही त्यांच्या कडे लक्ष्य ठेवा।" उनका इशारा अपनी पत्नी की ओर था। मानो कह रहे थे कि वह तो मरने की तैयारी से बढ़ रहे हैं, पत्नी की सार-सम्हाल अब मेरे जिम्मे। मैंने इशारे में ही उन्हें ठहरने को कहा। वह बहुत घायल हो चुके थे। यों तो सभी स्वयंसेवकों ने मार खाने में काफी वीरता और साहस का परिचय दिया था, पर मोहन नामक एक गुजराती लड़के ने तो कमाल ही कर दिया। पहले धावे में उसे उठाकर कांटों की बाड़ में झोंक दिया गया। दूसरी बार उसकी अंगुलियों पर डण्डों की ऐसी मार पड़ी कि अँगुलियों की हड्डियां टूट गईं और जब तीसरी बार वह आगे बढ़ा तब उसका हाथ ही टूट गया। कमर में भी चोट आई।

में भी व्याख्यानों के लिए जाना पड़ता था। यद्यपि मैं थकी हुई होती थी, फिर भी खड़ी होने पर और लोगों को देखकर मुझे जोश आ जाता और ग्रामाफोन के रिकार्ड की तरह भाषण दे डालती।

एक रोज सुबह पाच बजे मुझे उठाया गया और कहा गया कि स्वयं-सेवक धारासणा जा रहे हैं। मैं उनको आशीर्वाद दूँ। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी और बाहर आई। जोश तो भरा ही पड़ा था, मैंने कहा—"भाइयो, जीत कर आओगे तो अमर हो जाओगे और मरोगे तो आकाश में तारों की तरह चमकोगे।" ये शब्द कहकर मैं पाखाने गई। वहाँ जब मैंने अपने शब्दो पर विचार किया तब मुझे रोना आ गया। इन भाइयो को ऐसा कहने में मुझे क्या जोर लगा? अगर कमलनयन इस टुकड़ी में होता तो क्या मैं ये शब्द बोल पाती? मुझे यह भी खयाल आया कि मुझमें और जमनालालजी में इतना फरक है कि वह कर लेते, और दूसरों को कहने में उन्हे संकोच होता। मै दूसरों को झट से कह देती हूँ। मैंने बोल तो दिया, पर मै विकल हो उठी। इच्छा हुई कि मै भी धारासणा जाऊँ। अपनी ननद केशरबाई तथा ऋषभदासजी रांका के साथ धारासणा के लिए रवाना हो गई। रात को तीन-चार बजे बलमाड़ स्टेशन पर पहुंचे। स्टेशन पर एकदम गम्भीर और डरावना वातावरण था। अँधेरे में चारों ओर पुलिसवाले ही दिखाई पड़ते थे। उस गम्भीर और अँधेरे वातावरण मे कोई रास्ता बतानेवाला भी नही था। आखिर एक तांगेवाले ने ले चलने को कहा। परन्तु उसने दस-बारह रुपये मांगे। हमने कहा कि जो लेना हो सो ले लेना, पर हमें ६ बजे के पहले पहुंचा दे। लोग धारासणा न पहुचने पावें, इसलिए रास्ते भर में जगह-जगह पुलिस की चौकियाँ लगी हुई थी। पर लोग जिधर धारासणा मे कैम्प लगा हुआ था वहाँ पहुँच ही रहे थे। तांगे या दूसरे वाहन कठिनाई से जा पाते थे। स्त्रियां होने से हमारे तांगे को जाने दिया गया। तांगेवाला भी होशियार था। हमें उसने ६ बजने में पांच मिनट पूर्व ही धारासणा कैम्प में पहुँचा दिया।

पुलिस का पूरा इन्तजाम होने पर भी हजारो आदमी वहां जमा हो गये थे। चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। वहाँ अब्बास तैयबजी और सरोजिनीदेवी के भाषण हुए। भाषण होते ही टुकड़ियाँ रवाना

हो गई। उधर पुलिस भी डण्डा लेकर तैयार थी। उन्हें शराब पिला कर निहत्थे स्वयंसेवकों पर डण्डे-लाठियाँ चलाने के लिए तैयार किया गया था। भांटिया नामक पारसी अफसर इनका सरदार था। स्वयं-सेवकों ने नमक के डिपो पर धावा बोल दिया। चारों तरफ लोहे के तारों की बाड़ लगी हुई थी। तार काटने के लिए स्वयंसेवकों को चिमटे दिये गये थे। ज्योंही स्वयंसेवक आगे बढ़े कि पुलिस ने डण्डों की ऐसी मार मारी कि उतनी बेरहमी से जानवरों को भी नहीं मारा जाता। डण्डा लगता और स्वयंसेवक धरती पर गिर जाता। जिन्हें मार कम लगती, वे आगे बढ़ते और जिन्हें ज्यादा लगती, वे बेहोश हो जाते। गिरे हुओं को स्ट्रेचर पर ले जाया जाता। कई स्वयंसेवक तो होश में आते ही दौड़ पड़ते। डण्डों की मार के बावजूद जब स्वयंसेवक आगे ही बढ़ते रहे तब पुलिस के सरदार ने घुड़सवार को उनपर छोड़ दिया, जिससे एकदम सन्नाटा छा गया। घोड़ों की टापों और डण्डों से स्वयंसेवक गिरने लगे। साढ़े दस बजे तक लगभग सातसौ घायलों को स्ट्रेचर पर उठाकर झोपड़ी आदि में तथा खुले मैदान में सुलाया गया। चारों ओर की जगह घायलों से भर गई। चिकित्सा की व्यवस्था थी, पर बहुत अधिक लोगों के आ जाने से जिसे जो सूझा, वही उसमें लग गया। मैं एक घड़ा पानी लेकर पहुँच गई और गीले कपड़े से आँखों पर पानी के छींटे देने लगी। घायलों में श्री दयण भी थे। उन्होंने होश आते ही फिर आगे बढ़ने की तैयारी बताई। बोले—"जानकीबाई, तुम्ही त्यांच्या कड़े लक्ष्य ठेवा।" उनका इशारा अपनी पत्नी की ओर था। मानो कह रहे थे कि वह तो मरने की तैयारी मे बढ रहे हैं, पत्नी की सार-सम्हाल अब मेरे जिम्मे। मैंने इशारे में ही उन्हें ठहरने को कहा। वह बहुत घायल हो चुके थे। यों तो सभी स्वयंसेवकों ने मार खाने में काफी वीरता और साहस का परिचय दिया था, पर मोहन नामक एक गुजराती लड़के ने तो कमाल ही कर दिया। पहले धावे में उसे उठाकर काटों की बाड़ में झोंक दिया गया। दूसरी बार उसकी अंगुलियों पर डण्डों की ऐसी मार पड़ी कि अँगुलियों की हड्डियाँ टूट गईं और जब तीसरी बार वह आगे बढ़ा तब उसका हाथ ही टूट गया। कमर में भी चोट आई।

उसके हाथ की अँगुलियाँ अब भी टेढ़ी हैं। कितना जोश और कितना उत्साह था······!

उस दिन धावे के सरदार नरहरिभाई परीख थे। उनके सिर में डण्डे की भयंकर चोट आई थी। उन्हें खून से लथपथ देखकर विट्ठलभाई पटेल स्तब्ध रह गये। उनकी भव्य और लम्बी सफेद दाढ़ी वाली मुद्रा पत्थर की मूर्ति-जैसी लगती थी। नरहरिभाई का घाव धोकर मरहम-पट्टी की गई। होश में आते ही वह आगे बढ़ने को तैयार हो गए। लेकिन समय हो जाने से सत्याग्रह बन्द रखा गया। यह एक अजीब लड़ाई थी। कहते हैं कि लड़ाई में तो दोनों पक्षों की ओर से वार होता है, दोनों पक्ष अपनी-अपनी बहादुरी के दांव-पेंच बताते हैं और प्रायः समान शक्ति से भिड़ते हैं। पर यहां तो एक ओर पुलिस मारने में वीरता दिखा रही थी और दूसरी ओर स्वयंसेवक मार खाने में वीरता का परिचय दे रहे थे।

हम घायलों की टुकड़ी के साथ छावनी लौट आए। विलेपारले-छावनी की टुकड़ी ने काफी वीरता दिखलाई थी और वहां काम भी बहुत अच्छा होता था। सैकड़ों भाई जेल गए, और काम भी चलता रहा। आखिर सरकार यह सब कबतक सहन करती। इस काम को सरकार के खिलाफ कहकर छावनी जब्त कर ली। लोग गिरफ्तार कर लिये गए।

: २२ :

आन्दोलन में योग

विलेपारले छावनी जब्त हुई, उस समय में माटुगा में केशवदेवजी नेवटिया के यहां रहती थी। एक दिन पूज्य कस्तूरबा के साथ गोशी-बहन, पेरीनबहन आदि चार-पांच बहनें आई और कहने लगीं कि अब यहां बहनें पकड़ी जाने लगी हैं। आपको काम नहीं करने दिया जायगा। आप भी पकड़ ली जायंगी। जेल में कम या ज्यादा संख्या का महत्त्व नहीं है, पर काम तो चलना ही चाहिए। इसलिए अगर आप कलकत्ते जाकर विलायती कपड़े के बहिष्कार का काम हाथ में लें तो बहुत अच्छा होगा। यहां के मारवाड़ी-समाज में आप ज्यादा काम कर सकेंगी।

जेल में जमनालालजी के पास भी ये बातें पहुंचने लगीं। बाहरवालों के कष्ट की बातें सुनकर उनको अच्छा नहीं लगता था और वह कहते थे कि हम तो यहां (जेल में) आराम से रहें और बाहर कार्यकर्ता कष्ट में हों, यह अच्छा नहीं। लेकिन उन्हें जब मालूम होता कि उनके आत्मीय लोग बाहर काम कर रहे हैं तब उन्हें बड़ी खुशी होती और उत्साह बढ़ाने के लिए वह उन्हें चिट्ठियां लिखते। एक पत्र में तो उन्होंने मुझे यहांतक लिख दिया कि अबतक तो तुम जमनालाल की पत्नी के रूप में ही पहचानी जाती थी, पर अब जब मैं छूटकर आऊंगा तब लोग कहेंगे कि जानकीबाई के पति आए हैं। यही उनकी महानता थी। वह छोटे-से-छोटे कार्यकर्ता का भी उत्साह इतना बढ़ाते कि वह और अधिक उत्साह और तेजी से काम पर जुट जाता। बाहर के व्याख्यानों के कारण मेरा नाम अखबारों में आने लगा। एक दिन बापूजी ने यरवदा जेल से पत्र भेजा :

२७–७–१९३०.

चि० जानकीबहन,

तुम्हारा पत्र मिला। अब उत्साह क्यों न होगा? अब तो भाषण

करती हो, अखबारों में नाम आता है। समय-समय पर जानकीबाई बजाज का नाम अखबारों में देखता हूं, तब उससे ऐसा ही लगना चाहिए कि जमनालाल और हम सब जेल में ही रहें। मुझे तो विश्वास था ही कि तुम्हारे दिखाई देनेवाले अविश्वास के पीछे पूरा आत्मविश्वास था। ईश्वर उसमें प्रगति करे।

बापू के आशीर्वाद

मेरा अधिक-से-अधिक उपयोग हो, इस खयाल से पेरीनबहन और कस्तूरबा आदि के समझाने पर मैं कलकत्ता के लिए तैयार हो गई। कमला मेरे साथ रही। बड़ी मुश्किल से उसकी सास ने दस दिन के लिए उसको मेरे साथ किया, पर वह दो महीने मेरे साथ रही।

हमलोग वर्धा आए। मैंने जाजूजी से कहा कि मुझे कलकत्ता विलायती कपड़ा बन्द कराने के लिए जाना है। उन्होंने कहा कि कलकत्ता भले ही जाओ, पर वहां विलायती कपड़े का बन्द होना मुश्किल है। मैं सोच में पड़ गई कि अब क्या करूं? बम्बई से कलकत्ता के लिए आई और वहां काम की उम्मीद कम ही है। फिर बिना बुलाए जाने पर काम कैसे होगा? इसलिए पहले बिहार जाने का तय किया। बिहारी लोग सरल होते हैं और वे मेरा उपयोग ले सकेंगे, ऐसा उस समय समझा गया। मैं कमला, मदालसा महादेवलालजी सर्राफ के साथ बिहार गई।

उस समय वहां आतंक छाया हुआ था। सभा करना, सभा में आना-जाना, भाषण करनेवालों को ठहरने देना आदि अपराध माना जाता था। इस कारण लोग पकड़े जाते थे, जुरमाना भी होता था। लक्ष्मीबाबू हमारा इन्तजाम करते थे। पर कहीं-कहीं तो ठहरने को भी जगह नहीं मिलती थी। धर्मशाला आदि में ठहरना पड़ता था। गांव में जाने पर सभा की डोंडी पिटवाई जाती। जैसे-तैसे करके कुछ लोग सभा में आ ही जाते। पुरुषों को तो भाषण करते ही पकड़ लिया जाता, पर स्त्रियों को पकड़ने में वहां के अधिकारियों को संकोच होता। हमारी तो जेल जाने की तैयारी थी ही। एक महीने में हम ४५ गांव घूमे। एक-एक गांव में लगभग तीन-तीन सभाएं होतीं। एक सार्वजनिक, दूसरी व्यापारियों की और तीसरी बहनों की। महादेवलालजी तो सभा में कुछ बोलते ही न थे, क्योंकि वह

जानते थे कि बोलते ही पकड़ लिये जायगे। मदालसा कुछ-कुछ बोलती थी। अधिक तो मुझे ही बोलना पड़ता था। आखिर मेरा गला बैठ गया। मैं बोलती तो लोगों को सुनाई न देता, इसलिए एक दिन मैंने कमला से बोलने के लिए कहा।

कमला उसके लिए तैयार ही नहीं होती थी। आखिर बहुत जोर देने पर एकदम उठी और बोली—"आप सब लोग बिल्ली की तरह क्या बैठे हो? नेता लोग तो जेलों में हैं।" इस तरह के दस-पांच शब्द बोलकर बैठ गई। यही उसका पहला और आखिरी भाषण था।

घूमते-घूमते हम दुमका पहुँचे। वहाँ हमारे सम्बन्धी और परिचित थे। लेकिन वे हमें अपने यहाँ उतार नहीं सकते थे और न खुले दिल से सत्कार ही कर सकते थे। उनके लिए तो एक प्रकार का धर्म-संकट ही था। अगर वे हमें अपने यहाँ ठहराते या खिलाते-पिलाते तो जेल जाने या जब्ती का डर था और कुछ न करते तो जी दुखता। पर हमने उन्हें अभय-दान दे दिया और हम स्वयं ही एक धर्मशाला में जाकर ठहर गए। उन्होंने डरते-डरते किसीके हाथ एक खास किस्म के लोटे में, जो कि मारवाड़ी-समाज में शौच जाने के लिए के होते हैं, गाय का दूध भरकर भिजवा दिया और एक कोने में रखकर इशारा कर दिया। यह भी कहलाया कि अगर दूकान पर आप लोग आवेंगे तो हमारी बड़ी मुश्किल हो जायगी। लेकिन हमें तो सब दूकानों पर जाना ही था। लोगों में इतना आतंक था कि वहाँ हमारी सभा हो ही नहीं सकती थी। डौंडी भी कौन पीटता? हमसे बात करने में भी लोग डरते थे। दूकान से उठकर जाते तब उनकी कही जान में जान आती। पुलिसवाले भी चक्कर लगा रहे थे, पर वे भी क्या करते? शायद उन्हें स्त्रियों को पकड़ने की अनुमति न हो, और दूकानदार तो कानून के शिकंजे के बाहर ही थे। वे तो बेचारे 'आओ-बैठो' तक नहीं कहते थे। पुलिसवाले हमारे पीछे-पीछे ही घूमते थे।

बिहार के इस दौरे में हमें बिहारवालों की सरलता, नम्रता और भोलेपन का बहुत अनुभव मिला। यों राजेन्द्रबाबू से पुराना परिचय था और उनकी नम्रता, सरलता और शान्त स्वभाव से हम सब परिचित थे,

पर बिहार जाने पर बिहारियों के सद्गुणों का और भी अधिक परिचय मिला। उन दिनों बिहार में इतना सख्त परदा था कि हाथ पकड़कर स्त्रियों की सभा में बहनों को लाने की कोशिश करनी पड़ती थी। स्त्रियों की बात तो दूर, पुरुष भी घबड़ाते थे कि हमारी स्त्रियाँ सभा में कैसे जायँगी। संकोचवश वे हमें मना नहीं कर सकते थे और स्त्रियों का बाहर निकलना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था, क्योंकि सामाजिक रिवाज ही कुछ ऐसा था। समाज का डर भी तो कोई चीज है!

दुमका से हम कलकत्ता पहुँचे। वहाँ हम बैरिस्टर कालीप्रसादजी खेतान के यहाँ गए। जमनालालजी उन्हींके यहाँ ठहरा करते थे। खबर लगते ही सुभाषबाबू मिलने आए। बड़े प्रेम से बातें कीं। उनकी इच्छा मुझे अधिक-से-अधिक सहयोग देने की थी। मैं तो विदेशी कपड़ों के बहिष्कार के लिए वहाँ गई थी। उन्होंने इस विषय में सलाह दी और दूसरे लोगों से भी बात की।

एक दिन मैं इसी सिलसिले में दासबाबू के यहाँ गई। उनका तो सन् २४-२५ में स्वर्गवास हो चुका था। पर उनकी पत्नी वासन्तीदेवी से मेरी बातें हुईं। मुझपर तो आन्दोलन का नशा छाया हुआ था। मैंने उनको उपदेश देना शुरू किया। मैंने कहा—"आप काम करें और जेल जायँ तो लोगों पर बहुत असर पड़ेगा।" उनकी परिस्थिति की कल्पना मुझे थी ही नहीं। उनके पुत्र का भी देहान्त हो चुका था। विधवा बहू की जवाबदारी भी उनपर थी। इस विपत्ति में भी उन्होंने सहज भाव से उत्तर दिया कि विधवा बहू को अकेले छोड़ना कठिन है। जो महान होते हैं, वे दुःख में भी अपनी सहज नम्रता नहीं खोते।

लेकिन मेरी ऐसी बातों से महावीरप्रसादजी पोद्दार हँसा करते थे। वह जानते थे कि मुझमें जोश तो बहुत है, पर इतने बड़े शहर में यह सब होना कठिन है। लेकिन वहाँ सीतारामजी सेक्सरिया मुझे बराबर सहयोग देते थे।

कुछ लोग बाजार में जाकर पिकेटिंग करने लगे। उन्हें पकड़ा जाने लगा, पर स्त्रियों की तैयारी कम देखी।

दो महीने तक मैं वहाँ रही। और कामों के साथ-साथ इन दिनों मैंने वहाँ खादी-प्रचार और परदा-निवारण का भी कुछ काम किया।

: २३ :
घर में वहू आई

कमलनयन छोटी उम्र से ही विनोवाजी के आश्रम में रहता था। शुरू-शुरू में वही एक छोटा लड़का विनोवाजी के आश्रम में रहा था। विनोवाजी स्वयं उसकी देखभाल रखते थे और आश्रम के कामों के अलावा उसको लिखाने-पढ़ाने का भी खयाल रखते थे। कमलनयन का आश्रम के कामों में तो मन लग गया था, परन्तु लिखने-पढने में उसका पूरा मन नही लगता था। जवाहरलालजी और घनश्यामदासजी (बिड़ला) कमलनयन की लिखाई-पढ़ाई के बारे में जमनालालजी को ठपका (उलहना) देते रहते थे। एक दिन जवाहरलालजी ने बापू से कह दिया, "कमलनयन जमनालालजी का काम कैसे सम्हालेगा ? इसे बोलना-लिखना तक तो आता नही। गढा खोदने, संडास साफ करने, आटा पीसने, लकड़ी चीरने और रोटी बनाने वगैरा से आगे दुनिया में कैसे काम चल सकेगा ? कुछ पढाई-लिखाई भी तो होनी चाहिए। कुछ अंग्रेजी भी तो सीखनी चाहिए।" बापू ने कहा—"कमलनयन की इच्छा हो तो पढाई शुरू करवा सकते हैं। बाकी उसे आश्रम के ही कामों में रस आता रहा है, पढाई में मन नही लगता। विनोवा कहते हैं कि जब पढाई की भूख लगेगी तब पढ लेगा।"

डांडी-मार्च के बाद और नमक-सत्याग्रह के दौरान में कमल को गुजरात विद्यापीठ में स्वयंसेवक शिविर में रखा गया था। जब सत्याग्रह बन्द हुआ तो उसकी इच्छा कुछ पढने की हुई। बापूजी की सलाह से अंग्रेजी पढाने का निश्चय हुआ। श्री वालजीभाई (वालजी गोविन्दजी देसाई) अपने स्वास्थ्य-सुधार व हवाफेर के लिए पूरे कुटुम्ब के साथ अलमोड़ा जा रहे थे। बापूजी ने कमल को भी उनके साथ कर दिया। वालजी-

पर बिहार जाने पर बिहारियों के सद्गुणों का और भी अधिक परिचय मिला। उन दिनों बिहार में इतना सख्त परदा था कि हाथ पकड़कर स्त्रियों की सभा में बहनों को लाने की कोशिश करनी पड़ती थी। स्त्रियों की बात तो दूर, पुरुष भी घबड़ाते थे कि हमारी स्त्रियां सभा में कैं जायंगी। सकोचवश वे हमें मना नही कर सकते थे और स्त्रियों का बाह निकलना भी उन्हें अच्छा नही लगता था, क्योंकि सामाजिक रिवाज कुछ ऐसा था। समाज का डर भी तो कोई चीज है!

दुमका से हम कलकत्ता पहुँचे। वहां हम बैरिस्टर कालीप्रसा खेतान के यहां गए। जमनालालजी उन्हीके यहां ठहरा करते थे। लगते ही सुभाषबाबू मिलने आए। बड़े प्रेम से बातें की। इच्छा मुझे अधिक-से-अधिक सहयोग देने की थी। मैं तो विदेशी के बहिष्कार के लिए वहां गई थी। उन्होंने इस विषय में सा और दूसरे लोगों से भी बात की।

एक दिन मैं इसी सिलसिले में दासबाबू के यहां गई। उ सन् २४-२५ में स्वर्गवास हो चुका था। पर उनकी पत्नी बासन्त मेरी बातें हुईं। मुझपर तो आन्दोलन का नशा छाया हुआ उनको उपदेश देना शुरू किया। मैंने कहा—"आप काम करे जायँ तो लोगों पर बहुत असर पड़ेगा।" उनकी परिस्थिति मुझे थी ही नही। उनके पुत्र का भी देहान्त हो चुका था। की जवाबदारी भी उनपर थी। इस विपत्ति में भी उन्होंने सा उत्तर दिया कि विधवा बहू को अकेले छोड़ना कठिन है। जो है, वे दुःख में भी अपनी सहज नम्रता नही खोते।

लेकिन मेरी ऐसी बातों से महावीरप्रसादजी पोद्दार हँसा जानते थे कि मुझमें जोश तो बहुत है, पर इतने बड़े शहर में कठिन है। लेकिन वहां सीतारामजी सेक्सरिया मुझे बराबर

कुछ लोग बाजार में जाकर पिकेटिंग करने लगे। लगा, पर स्त्रियों की तैयारी कम देखी।

दो महीने तक मैं वहां रही। और कामों के साथ-सा वहां खादी-प्रचार और परदा-निवारण का भी कुछ काम

उम्र का होने से छोड़ दिया गया था। इस कारण जेल नहीं जा सका था। इसका उसके मन में असंतोष भी था। यहाँ स्वाभाविक ही उसको अच्छा मौका मिला, ऐसा उसको लगा। परन्तु चूँकि बापूजी का आदेश आ चुका था, उसने कार्यकर्त्ताओं को समझाने का काफी प्रयत्न किया। उसने कहा कि बापूजी के आदेश को तोड़ना नियम के विरुद्ध होगा। उसने मीटिंग में भाग लेने की अपनी लाचारी प्रकट की। पर कार्यकर्त्ता आग्रही थे। वे बड़ी मुश्किल से इस बात पर राजी हुए। उन्होंने कहा कि कमल मीटिंग में जरूर शामिल हो, भले ही भाषण न दे। कमल इस बात को मान गया।

शाम को मीटिंग में सब लोग पहुँचे तो पता चला कि कार्यकर्त्ताओं ने कमल का नाम भी उससे बिना पूछे ही बोलनेवालों में घोषित कर दिया है। यही नहीं, पहले से ऐलान भी हो चुका है और पर्चे भी बँट चुके हैं। यह देखकर उसे ताज्जुब हुआ; पर खुशी भी हुई कि जेल जाने का मौक़ा तो आया। लेकिन दूसरी ओर लाचारी भी महसूस होती थी कि बापूजी ने तो कानून-भंग करने को मना करके सीधे आश्रम पहुँचने को लिखा है। आखिर में बाध्य होकर उसने मीटिंग में बोलना ही ठीक समझा। वहाँ वह मेले की व्यवस्था आदि के विषय पर ही बोला। उसने साफ़ जाहिर कर दिया कि बापूजी के आदेशानुसार वह किसी भी तरह राजनीति के विषय में नहीं बोल सकता। लेकिन मीटिंग होने पर अन्य लोगों के साथ कमल को भी पुलिस ने पकड़ लिया।

वहाँ मजिस्ट्रेट नहीं था। उसे अपने सदर मुकाम से बुलाना पड़ा। तबतक तीन-चार रोज सबको हिरासत में ही रखा गया। बागेश्वर में किसी ग्वाले के मकान के नीचे के हिस्से को, जहाँ ढोरों को रखा जाता था, हवालात का रूप दे दिया गया। मजिस्ट्रेट के सामने कमल ने अपनी अक्खड़ता के मुताबिक जवाब दिये, जिसकी वजह से उसका मुकदमा करने में मजिस्ट्रेट को बहुत देर लगी। मजिस्ट्रेट उसी रोज मुकदमा समाप्त करके अपने सदर मुकाम चला जाना चाहता था। वह संभव नहीं हो सका। इस नाराजी की वजह से या जो भी कुछ उसको लगा हो, उसने कमल को छः महीने की कड़ी सजा, कुछ जुरमाना और उसके बदले में

भाई ने काफी परिश्रम उसपर किया। इधर बापू गोलमेज-परिषद् (राउन्ड टेबल कान्फ्रेंस) में चले गये। उनके लौटने के पूर्व ही यू० पी० में लगान-बन्दी आन्दोलन छिड़ गया। बापूजी ने आते ही, जितने डांडी-यात्री थे, उन सबको साबरमती-आश्रम में बुलवाया, जिससे आगे का कार्यक्रम निश्चित किया जा सके। कमल को भी इसी प्रकार का पत्र गया और उसमें ताकीद थी कि उसको सीधे आश्रम में आ जाना है, और उससे पहले किसी सत्याग्रह आदि में भाग नहीं लेना है। कमल बालजी-भाई से छुट्टी लेकर साबरमती जाने के लिए निकल पड़ा। दिसम्बर के आखिरी दिन थे। उन दिनों बागेश्वर में, जो कि अलमोड़ा से तीस-चालीस मील उत्तर में गोमती और सरयू नदी के संगम पर है, सालाना बड़ा मेला भरा करता है। उस मेले में तिब्बत के भोटिया लोग माल लेकर ऊपर से नीचे आते हैं और गर्मियों के शुरू में यहां से माल लेकर तिब्बत चले जाते हैं। कमल ने सोचा कि अलमोड़ा से नीचे उतरकर बागेश्वर होते हुए चला जाय तो मेला भी देखा जा सकेगा। साबरमती ठीक समय से पहुँचा जा सके, यह हिसाब देखकर वह अलमोड़ा से निकल पड़ा।

मेले के प्रबन्ध के वास्ते अलमोड़ा से कई कांग्रेसी कार्यकर्ता पहले से ही वहां पहुँच चुके थे। इसी बीच यू० पी० में लगान-बन्दी आन्दोलन शुरू हो जाने से मेले में गये हुए कार्यकर्ताओं को भी जोश था और उन्होंने एक मीटिंग बुलाने का ऐलान किया। मीटिंग का मुख्य उद्देश्य मेले में सफाई की व्यवस्था आदि के बारे में विचार करने का था, फिर भी कार्यकर्ता लोगों का राजनैतिक व्याख्यान करने का भी इरादा था। सरकार ने मेले के दौरान में १४४ की धारा लगाकर मीटिंग पर पाबन्दी लगा दी। जिस रोज मीटिंग होनेवाली थी, उसी रोज कमल भी वहां पहुँचा। जब कार्यकर्ताओं को उसके पहुँचने की सूचना मिली तो वे सब उससे मिलने आये। वे लोग काफी जोश में थे और १४४ की धारा का लगना अपने स्वाभिमान के विरुद्ध समझकर उसे तोड़ने का निश्चय कर चुके थे। उन्होंने कमल से भी आग्रह किया कि मीटिंग में बोलना

उम्र का होने से छोड़ दिया गया था। इस कारण जेल नहीं जा सका था। इसका उसके मन में असंतोष भी था। यहां स्वाभाविक ही उसको अच्छा मौका मिला, ऐसा उसको लगा। परन्तु चूंकि बापूजी का आदेश आ चुका था, उसने कार्यकर्त्ताओं को समझाने का काफी प्रयत्न किया। उसने कहा कि बापूजी के आदेश को तोड़ना नियम के विरुद्ध होगा। उसने मीटिंग में भाग लेने की अपनी लाचारी प्रकट की। पर कार्यकर्त्ता आग्रही थे। वे बड़ी मुश्किल से इस बात पर राजी हुए। उन्होंने कहा कि कमल मीटिंग में जरूर शामिल हो, भले ही भाषण न दे। कमल इस बात को मान गया।

शाम को मीटिंग में सब लोग पहुँचे तो पता चला कि कार्यकर्त्ताओं ने कमल का नाम भी उससे बिना पूछे ही बोलनेवालों में घोषित कर दिया है। यही नहीं, पहले से ऐलान भी हो चुका है और पर्चे भी बँट चुके हैं। यह देखकर उसे ताज्जुब हुआ; पर खुशी भी हुई कि जेल जाने का मौका तो आया। लेकिन दूसरी ओर लाचारी भी महसूस होती थी कि बापूजी ने तो कानून-भंग करने को मना करके सीधे आश्रम पहुँचने को लिखा है। आखिर में बाध्य होकर उसने मीटिंग में बोलना ही ठीक समझा। वहां वह मेले की व्यवस्था आदि के विषय पर ही बोला। उसने साफ जाहिर कर दिया कि बापूजी के आदेशानुसार वह किसी भी तरह राजनीति के विषय में नहीं बोल सकता। लेकिन मीटिंग होने पर अन्य लोगों के साथ कमल को भी पुलिस ने पकड़ लिया।

वहां मजिस्ट्रेट नहीं था। उसे अपने सदर मुकाम से बुलाना पड़ा। तबतक तीन-चार रोज सबको हिरासत में ही रखा गया। बागेश्वर में किसी ग्वाले के मकान के नीचे के हिस्से को, जहां ढोरों को रखा जाता था, हवालात का रूप दे दिया गया। मजिस्ट्रेट के सामने कमल ने अपनी अक्खड़ता के मुताबिक जवाब दिये, जिसकी वजह से उसका मुकदमा करने में मजिस्ट्रेट को बहुत देर लगी। मजिस्ट्रेट उसी रोज मुकदमा समाप्त करके अपने सदर मुकाम चला जाना चाहता था। वह संभव नहीं हो सका। इस नाराजी की वजह से या जो भी कुछ उसको लगा हो, उसने कमल को छः महीने की कड़ी सजा, कुछ जुरमाना और उसके बदले में

सजा तथा 'सी' क्लास दिया। दूसरे रोज सबको पैदल ही सोमेश्वर तक लाया गया और वहाँ से बस द्वारा अलमोड़ा की जेल पहुँचा दिया गया। अलमोड़ा में कोई पन्द्रह रोज रखा। वहाँ छोटे लड़कों के लिए कोई प्रबंध न था। इस कारण कमल व दूसरे एक साथी लड़के का हरदोई-जेल में, जहाँ लड़कों के लिए विशेष प्रबन्ध था, तबादला कर दिया गया। हरदोई-जेल में वह करीब चार-पाँच महीने रहा। उसमें अधिकतर तो उसका समय 'सी' क्लास में ही कड़ी सजा के साथ कटा। करीब १७ वर्ष की उम्र में उसका ४२ पौंड वजन घट गया। इस बीच असेम्बली आदि में सवाल-जवाब होने की वजह से उसे करीब दो-तीन हफ्ते अस्थायी तौर पर 'बी' क्लास दिया और बाद में 'ए' क्लास कर दिया गया। उसके बाद उसको बरेली डिस्ट्रिक्ट जेल में भेज दिया गया। बरेली में 'ए' क्लास रहने से खुराक कुछ अच्छी मिली। आराम और अच्छे साथियों में रहने से (साथियों में श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित के पति श्री आर० एस० पंडित भी थे। इनसे कमल का काफी निकट का परिचय हो गया और वे उसको सिखाने में रस भी लेते थे) उसके खोये हुए वजन में पंद्रह-बीस पौंड वापस मिल गये। जेल में सजा का बाकी भाग करीब एक महीना ही रहना पड़ा। जुरमाने की वसूली में पुलिस ने वर्धा की दूकान पर जाकर कई चीजें जब्त कर लीं और उनको बेचकर किसी कदर जुरमाना वसूल किया।

जेल से छूटने पर उसने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा की परीक्षा दी और १९३२ का सत्याग्रह बन्द हो जाने पर बापूजी की सलाह से प्रोफेसर जे० जे० वकील के स्कूल में पूना और विलेपारले में करीब साल भर पढाई की और फिर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मध्यमा की परीक्षा दी। १९३५ में बापूजी ने उसको अंग्रेजी के अभ्यास के लिए सीलोन भिजवा दिया। इसी बीच कलकत्तेवाले श्री लक्ष्मणप्रसादजी पोद्दार की लड़की के साथ उसकी सगाई की बातचीत चली।

सावित्री बहुत सुन्दर थी, इसलिए मेरा मन तो उसकी ओर झुका हुआ था, पर काफी दुबली होने से मन में डर भी था कि इसके बाल-बच्चे कैसे होंगे? मैंने बापूजी से यह बात कही तो उन्होंने भी मजाक में कहा कि बात तो ठीक है। ऐसी नाजुक लड़की अपने यहाँ निभेगी भी कैसे?

लेकिन महादेवभाई ने तो मजाक की हद ही कर दी। वे बोले, "जानकी-बहन, आप लड़की के रूप पर तो मोहित हो रही हैं, पर यह तो तुम्हारे लड़के को छोड़कर भाग जायगी।" इस मजाक से मुझे धक्का तो लगा, पर मैं तुरन्त संभल गई। मैंने कहा, "महादेवभाई, आखिर है तो मार-वाड़ी खून! भागेगी कहां?" सावित्री भी कभी-कभी महादेवभाई का वह मजाक दोहरा देती है और कहती है कि मेरी सच्ची परीक्षा तो उन्होंने ही की थी।

लड़कीवालों के विशेष आग्रह पर बापू ने सगाई पक्की कर दी। कल-कत्तेवालों की स्वाभाविक इच्छा थी कि शादी ठाट-बाट से हो, बरात में काफ़ी लोग आवें। बापूजी से सलाह करके बारात में पन्द्रह आदमी ले जाना तय किया। बापूजी ने पांच आदमी सुझाये थे और विनोबाजी ने तीन।

बच्छराजजी के कुटुम्ब में तीन पीढ़ियों में पहला लड़का हुआ था। इसलिए गांव, कुटुम्ब तथा सम्बन्धियों की अपेक्षा थी कि उसकी शादी में सबको बारात में जाने का मौका मिलेगा। पर जमनालालजी ने जब पन्द्रह की संख्या तय की, जिनमें कि आधी स्त्रियां होंगी, तो बहुतों को निराशा हुई और कुछ को तो बुरा भी लगा।

विवाह में खादी का प्रयोग होना ही था। सावित्री की इच्छा जरी की साड़ी पहनने की थी। सो चर्खा संघ को खास आर्डर देकर जरी की साड़ी मगाई गई।

लड़कीवालों ने कमलनयन के लिए खादी के ही कपड़े बनवाये। रेशमी शेरवानी और जरी का साफा। कलकत्ते से एक स्टेशन पहले ही वे कपड़े लेकर आये और उन्होंने चाहा कि उन कपड़ों को पहनकर ही वर स्टेशन पर उतरे, पर कमलनयन वर्धा से ही सफ़ेद कुर्ता, धोती, टोपी और केसरिया दुपट्टा लगाकर रवाना हुआ था और इसी पोशाक में वह कलकत्ते उतरा। उसका कहना था कि खादी के सादे, अच्छे और सफेद कपड़े ही धार्मिक विधि के समय होने चाहिए। विवाह की वेदी पर भी उसने यही कपड़े पहने।

स्टेशन पर बारात के स्वागत का पूरा इन्तजाम था। पर जब बारात

उन्होंने बड़ी तैयारी की थी और समझा था कि कम-से-कम पचास-साठ लोग तो होंगे ही।

सुबह हम लोग पहुँचे और शाम को छह बजे फेरे हुए। दूसरे ही दिन हमें रवाना होना था। बिड़लाजी अपने यहां पार्टी देना चाहते थे। लड़की-वाले अपने यहां जिमाना चाहते थे। जमनालालजी ने कहा कि हमको तो यहां एक भोजन करना है, कहीं भी हो। आखिर बिड़लाजी के यहां पार्टी हुई। लड़कीवाले परिवार के सब लोगों के लिए कपड़े वगैरा देना चाहते थे। लेकिन हमने लेने से इन्कार कर दिया। रामकृष्ण के लिए भी उन्होंने कमल के समान ही कपड़े और जेवर बनवाये थे, पर हमने कहा कि हम तो केवल वर के पांच कपड़े ले सकते हैं। मिलनी आदि का कोई नेगचार हमने लिया ही नहीं। कमलनयन अभी तक टीके का एक ही रुपया शकुन के तौर पर लिया करता है।

लड़कीवालों ने अपनी लड़की को क्या दिया-लिया यह न तो कभी पूछा और न हमें इसकी कुछ भी कल्पना ही थी। वर्धा पहुँचने पर कलकत्ते के कुछ मित्रों वगैरा ने दहेज के बारे में पूछताछ की कि कितना क्या-कुछ दहेज लिया तो जमनालालजी को बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि हमने दहेज में कुछ भी नहीं लिया था।

: २४ :
जेल-यात्रा

इधर सत्याग्रह चल रहा था, उधर मैं विदेशी कपड़े के बहिष्कार, शराब की दूकानों पर पिकेटिंग आदि के कामों में लगी थी। जनवरी के दिन थे। लन्दन में हो रही गोलमेज-परिषद् खतम हुई। बापूजी तथा और बड़े-बड़े नेता जेल से छूटे। गांधी-अर्विन समझौता हुआ। करांची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। बापूजी दूसरी गोलमेज-परिषद् में विलायत गये। वहां से खाली हाथ लौटे और सत्याग्रह फिर शुरू हो गया। बापूजी तथा सारे नेता लोग गिरफ्तार हो गये। मैं भी सत्याग्रह के काम में लग गई। इस बार वर्धा में बहनों को इसमें भाग लेने के लिए तैयार करने लगी। वर्धा के मूलचन्दजी भैया की मा भी, जो परदे में रहनेवाली और पुराने खयाल की मारवाड़ी महिला थीं, जेल जाने को तैयार हो गईं। मुझे जेल जाने की और बहनों को जेल के लिए तैयार करने की ऐसी धुन लगी, जैसे पीहर जाने का ही उत्साह हो। मेरा यह काम जोर से चलने लगा तब सरकारी अधिकारियों ने मुझे बाहर रखना ठीक न समझा और गिरफ्तार कर लिया। दूसरे दिन जेल में ही मुकदमा हुआ और छह महीने की सजा दे दी गई।

जबतक मै वर्धा-जेल में रही तबतक खाने का डब्बा घर से आता रहा, इसलिए कोई मुश्किल मालूम नही हुई। कुछ दिन पहले ही कमला के लडका हुआ था और वह वही थी। उसका भी रह-रहकर ध्यान आता था। कुछ दिन वर्धा रहने के बाद नागपुर बदली का हुक्म आया। मुझे डर लगा कि हे भगवान, अब कैसे होगा? उस दिन रात को सोई तो सपने में भी कमला के बच्चे को झूला झुलाने लगी। मेरा नागपुर ले जाना घरवालों को मालूम ही नहीं हो सका। 'गांधीजी की जय' के नारे

गाते हुए हम जा रहे थे।

अब मैं नागपुर-जेल में थी। जेल क्या था, एक बड़ा-सा राजमहल ही था। एक के बाद एक, इस तरह तीन-चार दरवाजे लांघने पर एक साफ कोठरी मिली। वहां दस कोठरियां थीं। एक कोठरी में जाली का पलंग-कुरसी आदि सामान था। अपने साथ जो चीजें थीं, उन्हें मैंने खोलकर घर की तरह जमा लिया।

वहां के सुपरिन्टेण्डेन्ट अनुशासन के बड़े कठोर थे और कैदी उन्हें जालिम कहा करते थे। मैं वहां 'ए' क्लास में थी। उन्होंने मुझसे आवश्यक सामान आदि के बारे में पूछा। मैंने कह दिया—"और तो जो-कुछ है उसीमें चल जायगा, लेकिन मेरा गाय के ही घी-दूध का नियम है।" उन्होंने कहा कि गाय का दूध तो यहां से दे दिया जायगा, घी घर से मंगवा सकती हो। मैंने उबले साग और सूखी रोटी के लिए ही कहा, क्योंकि मिर्च खाने की आदत नहीं थी।

जब मैंने देखा कि वहां साथी कैदियों में स्टोव सुलगाने के लिए दियासलाई की भी खींचा-तानी चलती है तब मैंने कच्चे दूध में ही नीबू निचोड़कर उसीका दही जमा लेने का तय किया। बैंगन का उबला साग और सूखी रोटी आती। उसीपर बिना तपा घी रखकर खा लिया करती। ठंडे पानी से ही नहाती और कपड़े धो लेती। हमारे यहां टट्टी के लोटे को मिट्टी से मांजने का रिवाज है, पर महाराष्ट्र में इसपर इतना ध्यान नहीं दिया जाता। जब कोई टट्टी होकर आता और अपनी आदत के अनुसार मेरी बाल्टी में लोटा डुबा देता तब मैं बाल्टी को फिर मिट्टी से मांजती। इस तरह मेरा काम बढ़ता ही जाता था।

पानी में काम करने और ठंडा तथा सूखा खाने से मुझे दिन में तीन-तीन, चार-चार टट्टियां और उल्टियां होने लगीं। बुखार भी आने लगा। डाक्टर ने दवा लेने को कहा, पर मैंने दवा लेने से इन्कार कर दिया। मेरी तबियत दिन-पर-दिन बिगड़ती ही गई। कोठरी का ताला शाम को पांच बजे बन्द कर दिया जाता। रात को कोठरी में ही जो कमोड रखा जाता था उसीमें बार-बार टट्टी जाना पड़ता था। सात दिन में मेरा तेईस पौण्ड वजन घट गया। बवासीर की शिकायत पहले से थी ही।

अब खून की टट्टियाँ और खून की उल्टियाँ होने लगीं। बाहर ऐसी खबर भी फैल गई कि मैं मर गई। किसी जीवित व्यक्ति के बारे में मौत की खबर फैलने को अच्छा ही माना जाता है और कहते हैं कि इससे उमर बढ़ जाती है। भगवान जाने, इसमें सचाई कितनी है, पर आज मैं जीवित हूँ यह तो सच ही है। मेरे मरने की खबर पहले-पहल किशोरलालभाई को ही लगी थी, पर उन्होंने जमनालालजी को बताया नहीं। बाद में तो सबको पता चल गया कि मैं मरी नहीं हूँ; पर मेरी हालत मरी-जैसी हो ही गई थी। मुझे जेल के अस्पताल में ले जाने के लिए स्ट्रेचर लाया गया। दुर्गाबाई जोशी ने कहा कि शाम के समय अस्पताल में नहीं ले जाने देंगे। वह बोली कि भगवान का नाम लेकर एक दवाई देती हूँ। देखिये, रात भर में कुछ हो गया तो अस्पताल से छुट्टी मिली समझें। उस समय मेरे पेट में कुछ टिकता ही न था, अनार का रस तक टट्टी में निकल जाता था। फिर भी हिम्मत करके उन्होंने दवा दी। वह दवाई क्या थी? एक चम्मच चावल तवे पर भूनकर कटोरी से उन्हें पीसा और पानी में पकाया। उस मांड में नमक और जीरा मिलाकर उसमें गाय के घी का बघार देकर मुझे चटा दिया। उससे मुझे काफी शांति मिली। पेट की दाह कम हो गई। वह मुझे स्वादिष्ट भी लगा।

इससे कुछ-कुछ तबियत सुधरी और दही-छाछ के सेवन का प्रश्न आया। लेकिन अब कच्चे दूध में नींबू निचोड़कर दही बनाकर खाने के नाम से ही उल्टी होती थी। जेल के सुपरिंटेण्डेन्ट ने कहा कि उनके यहाँ बच्चों के लिए गाय का दूध रहता है, अगर चाहें तो उसकी छाछ का जामन आप दे सकती हैं। पर मुझे लगा कि उसमें भैंस के दही का जामन लगता होगा। गाय की शुद्ध छाछ का जामन यहां कहां हो सकता है। शुद्ध जामन तो वर्धा से ही आ सकता था। बीमारी की खबर वर्धा इसलिए नहीं दी गई थी कि सब लोग घबरा जायगे। पर अब तो तार देकर जामन मंगाना पड़ा। एक हंडिया में मेरे लिए जामन आ गया और मुलाकात के लिए भी सब आये। एक महिला ने कहा—"दही की मुंगोड़ी तोड़कर सुखा दो। शीशी में भरकर रख दो। बस, जब जामन देना हो, दूध में एक मुंगोड़ी डाल दो। दही जम जायगा।"

जेल के अधिकारियों ने 'सी' क्लास की एक बहन को मेरे साथ रखने की अनुमति दे दी थी। मैंने मूलचन्दजी भैया की मां को अपने पास बुला लिया। इनकी सेवा और दुर्गाबाई जोशी के इलाज से ही मैं उस समय बच सकी। दोनों की सेवाओं को मैं भूल नहीं सकती। भैयाजी की मां ने छह महीने में 'सी', 'बी', 'ए' तीनों क्लासों का अनुभव ले लिया, जबकि मैं केवल 'ए' क्लास में रहकर भी बीमार रही।

इस बीमारी में मुझे एक अद्भुत सपना आया। जब मुझे जोर का बुखार था, मुझे कुनैन दी गई। पहले तो मैंने कुनैन लेने से इन्कार किया, लेकिन कहा गया कि जेल में वैद्य की दवाई नहीं दी जा सकती। डाक्टर ने कहा कि कम-से-कम ४० ग्रेन कुनैन लेनी होगी। मैंने तो जीवन में कभी कुनैन ली ही नहीं थी। आखिर २० ग्रेन देना तय हुआ। मैंने इतनी कुनैन डाक्टर से लेकर आधी तो फेंक दी। १० ग्रेन कुनैन मेरे पेट में गई होगी। पर इतनी कुनैन से भी मैं बेहोश हो गई। दाह बहुत बढ़ गई। इस बेहोशी में जो सपना देखा वह इस प्रकार है :

"मुझे पलग ऊपर उठाकर चला और मैं जेल के छप्पर पर बैठ गई। वहां मुझे डर लगने लगा कि मेरे छूटने का समय तो हुआ ही नहीं और मैं बाहर भी आ गई, अब अन्दर वापस कैसे आऊँगी। सामने जब मैंने आंखें दौड़ाई तब देखा कि घर के सामने गांधी-चौक में सभा हो रही है। वहां हरी-हरी दूब के गलीचे बिछे पड़े थे। झंडे लिये हुए स्वयंसेवक कतार में खड़े-खड़े कवायद कर रहे हैं। वे मुझे गुड्डों की तरह तीन-तीन इंच के लग रहे थे।"

कुछ दिन बाद खबर मिली कि बजाजवाड़ी, मगनवाड़ी और महिलाश्रम तीनों संस्थाएं जब्त हो गई। तीनों जगह तीन पुलिस की लारियां गई और वहां का सामान उठाकर ले गई। मुझपर सरकार ने एक हजार का जुरमाना किया था। हमें वह देना तो था नहीं, अधिकारी जब्ती करके चाहे जो ले जायं। बजाजवाड़ी में रात को सब सोये हुए थे। मेरी ननद गुलाबबाई राजस्थान से आई थी। पुलिस ने सारा सामान जब्त करके मुहर लगा दी। बजाजवाड़ी की १२-१३ गायें भी जब्त हो गई। पुलिस जब गायों का दूध बेचने हलवाइयों के पास गई तो उन्होंने जमनालालजी की

गायों का दूध किसी भी भाव खरीदने से इन्कार कर दिया। मुफ्त में भी वे दूध नही लेना चाहते थे। जबतक घास-चारा था तबतक तो गायों को मिलता रहा, पर बाद में पुलिस को क्या चिन्ता! बेचारी गाएं भी भूख के मारे सूख गईं। वे भी मानो जेल भोग रही थी।

दुकान में बड़ी-बड़ी तिजोरियां थी। उनको उठाकर ले जाना हँसी-खेल नही था, दो-चार आदमियों के बस की बात नहीं थी। पुलिसवाले सुबह से शाम तक सिर पटककर हैरान हो गए, उन्हें तिजोरी उठाने के लिए कोई हमाल नहीं मिला। तिजोरियो को उठाने का भी एक तरीका होता है और यह काम हमाल लोग ही कर सकते हैं। हमालो ने साफ कह दिया कि हम जमनालालजी की तिजोरियां हरगिज नही उठावेंगे। पुलिस-वाले उनको दस रुपए रोज तक की मजदूरी देने को तैयार थे, परन्तु हमालो में भी उस समय चेतना उमड़ पड़ी थी और देश-हित के लिए उन्होने सरकार का साथ देने से इन्कार कर दिया। आखिर शाम को पुलिस के अनेक सिपाहियों ने मिलकर किसी तरह तिजोरिया उठाईं। लेकिन इस काम में पुलिसवालों के अंगूठे पिचक गए, दरवाजो की चौखटें टूट गईं, फर्श फूट गईं। जैसे-तैसे उन्होने तिजोरियां बाहर पटकी। पाच महीने तक तिजोरियां सरकार के कब्जे में रही। उनमें लोगों का, सम्बन्धियों का बहुत-सा जेवर पड़ा था। शादी-ब्याह का मौसम था, गहनों की जरूरत थी, पर किया क्या जा सकता था?

जमनालालजी की दूकानवालों को आज्ञा थी कि अगर सरकार जब्ती करके कुछ ले जाना चाहे तो सब लोग दूकान के बाहर हो जायं और किसी प्रकार भी उनके काम में दखल न दें। पुलिसवाले तिजोरियां ले तो गए, पर जब अधिकारियों को मालूम हुआ कि उनमें हजारो के जेवर हैं तब वे भी घबरा गए।

: २५ :

नया रत्न खोज निकाला

दूसरी लड़की मदालसा बचपन से ही आश्रम के वातावरण में रही थी। विनोबाजी के पास रहने के इस कारण उसमें अत्यन्त सादगी और श्रमशीलता आ गई थी। शहरी या घर-गृहस्थी के प्रपंच से भी वह दूर रही।

एक बार महिलाश्रम की लड़कियों के माथों में जुएं पड़ गईं। बापू ने कहा कि बाल निकाल दो, लेकिन लड़कियों के बाल कैसे काटे जायं? बापू ने कहा तो सही, पर तैयार कौन हो? लड़कियों के माँ-बाप की इजाजत चाहिए। लेकिन मैंने तो मदालसा को बापू के सामने कर दिया और कहा, "बापूजी, मदालसा के बाल तो काट ही दीजिए।" बापू को क्या था, उन्होंने मशीन ली और अपने कांपते हुए हाथों से बाल काट दिये।

मैं उसको लेकर बजाजवाड़ी आई। सामने ही कुरसी पर दादीजी बैठी रहती थी। मदालसा को इस तरह देखकर वे रोने लगी। जमनालाल-जी को भी इससे रंज हुआ। वह धीमे से बोले, 'बाल काटने की क्या जरूरत थी?" पहले तो मैंने कह दिया कि क्या हुआ, कटा दिये तो? घास है, फिर उग आयगी। पर बाद में मुझे भी बुरा लगा कि ब्याह-योग्य लड़की के बाल कटाने में कौन-सी विशेषता थी? पर मै भी क्या करती, मदालसा ऐसे ही वातावरण में रही कि उससे मेंयही समझती थी कि उसका विवाह आदि तो करना-कराना है नहीं। वह तो उदासीन है।

मदालसा विनोबाजी के पास गोपुरी (नालवाडी) में रहती थी। आश्रम में छोटे-बड़े या गरीब-अमीर सब समान भाव से रहते थे। वह रोज सुबह चार बजे नालवाड़ी से बंगले पर नहाने को आती। उसे कब्ज रहती थी और इसलिए वह चार बजे गरम पानी पीती थी। चार

बजे गरम पानी करके पीती और गोपुरी से निकलती। शौच से निवृत्त होती। बंगले पर आकर नहाती, कपड़े धोकर सुखाती और वापस नालवाड़ी लौट जाती। लौटते समय उसके एक हाथ में छाछ की हंडिया होती, उसीमें थोड़ा मक्खन रहता, एक हाथ में लकड़ी और लालटेन होती। थोड़ा-सा गोबर भी वह बंगले से ही ले जाती। गोबर तो उसे नालवाड़ी में भी मिल सकता था, पर वह कहती थी कि इससे गरीबों को नुकसान होगा, कण्डे थापने में उनके लिए कमी हो जायगी। उसका चड्डी और कमीज पहने हुए आने-जाने का दृश्य अब भी मुझे याद आता है। आश्रम में नौकर रखने पर प्रतिबन्ध था, क्योंकि वहां हाथ से ही सारा काम करने का नियम था।

मदालसा का स्वास्थ्य बचपन से ही नाजुक रहा। हमारे यहां एक रसोइया ऐसा था, जो चोरी-छिपे उसको मीठी चीजें, चूरमा, आदि खिलाता रहता था। उद्देश्य तो उसका यही था कि मदालसा का स्वास्थ्य सुधरे, पर मीठा आदि खाने से उसका खून और दांत खराब हो गये। खटाई और दही आदि से वह दूर ही रही। आखिर जब हमारा अलमोड़ा जाना हुआ तब उसे भी ले गए। अलमोड़ा में मैं और मदालसा आठ महीने रहे। वहां उसको श्री रणजीत पंडित पढ़ाते थे। उसका बीस पौंड वजन बढ़ गया। इस तरह मदालसा का जीवन एकांगी बनता जा रहा था, परन्तु जमनालालजी को उसके भावी जीवन का विचार था और उसके लिए वह योग्य वर की तलाश में थे।

लखनऊ की कांग्रेस में श्रीमन्नारायणजी अग्रवाल पर जमनालालजी की निगाह पड़ी। श्रीमन्जी उस समय विलायत से लौटे थे। जमनालालजी ने सोचा कि इस लड़के को ध्यान में रखना है। वह श्रीमन्जी को वर्धा ले आए। श्रीमन्जी काफी पढ़े-लिखे होने पर भी विनम्र थे। उनकी बुद्धि तेज थी। जिस काम को हाथ में लेते, उसे बड़े लगन से करने की आदत थी। जमनालालजी ने उनकी रुचि और योग्यता का काम उनको सौंपा। वे मारवाड़ी विद्यालय में काम करने लगे। जमनालालजी में यही विशेषता थी कि वे अच्छे होनहार युवक से सम्बन्ध बढ़ाते और उसकी परख कर योग्य काम में लगा कर विकास का मौका देते। उन्होंने श्रीमन्जी को परख लिया था कि वे

आगे चलकर अच्छे जिम्मेदार और महत्वपूर्ण काम करनेवाले हो सकते हैं। श्रीमन्‌जी डेढ़ वर्ष तक वर्धा रहे। वे तो सबको पसन्द आ गये। बापू ने भी कहा कि लड़का तो ठीक है। बापू और विनोबा की अनुमति मिल गई, पर मदालसा से बात कैसे की जाय ? पूछा कैसे जाय ? उसकी राय लेकर ही श्रीमन्‌जी से पूछा जा सकता था।

उस समय मदालसा सफेद कपड़ों में रहती थी और बाल भी कटे हुए थे। जब श्रीमन्‌जी से पूछा गया तब उन्होंने मदालसा के इस वेश को देखकर कहा कि क्या यह इसी वेश में रहेगी ? जमनालालजी ने हँसते हुए कहा कि शादी के बाद तो वह ढंग से ही रहेगी।

इस तरह श्रीमन्‌जी की मौन-स्वीकृति मिलने पर जमनालालजी मदालसा को लेकर मैनपुरी श्रीमन्‌जी का घर दिखाने ले गए। वहाँ पर श्रीमन्‌जी की मा, पिताजी तथा परिवार के लोगों के प्रेम, अतिथि-सत्कार आदि से मदालसा बहुत खुश हो गई। श्रीमन्‌जी की मा वहाँ के महिला-मण्डल की अध्यक्षा थी। कविता से वहाँ इनका स्वागत किया गया। वे सब मदालसा की मन-भाती बातें थीं। यहाँ से जमनालालजी मदालसा और श्रीमन्‌जी को साथ लेकर कलकत्ता कमलनयन के विवाह में पहुँचे। वहीं पर जमनालालजी ने कमलनयन के फेरे होते ही मदालसा की सगाई का टीका कर दिया और सगाई के दस दिन बाद ही ब्याह कर दिया। उस समय बंगले पर कांग्रेस-कार्य-समिति की बैठक चल रही थी। देश के बड़े-बड़े मेहमान घर पर ही थे। इस तरह के मौके से अनायास लाभ उठाना जमनालालजी का स्वभाव ही था।

सुबह गांधी-चौक में सात बजे विवाह करना था। गांधी-चौक में ही हम रहते थे। तीन पीढ़ी में लड़की का ब्याह घर पर करने का यह पहला मौका था।

सुबह दही और तेल लगाकर मैंने मदालसा को नहलाया और मण्डप में ले गई। उस समय उसकी हालत यह थी कि मानो सूली पर चढ़ाई जा रही हो। उसका लाल चेहरा जैसे फटा जा रहा था। फेरों के बाद उसने बापूजी को और बा को प्रणाम किया। मदालसा ने अपने ससुर को प्रणाम करके जैसे ही सास को प्रणाम किया, उन्होंने मदालसा को छाती



आनरेरी मजिस्ट्रेट
जमनालालजी

सेठानी जानकीदेवीजी

राष्ट्रसेवी दम्पती

राष्ट्र का अतिथिगृह : बजाजवाड़ी

नागपुर के चीफ कमिश्नर सर बेंजमिन रोबर्टसन के साथ वर्धा के अपने पुराने मकान में जमनालालजी (केन्द्र में खड़े)
(सन् १९१७)

कांग्रेस-अध्यक्ष सुभाषबाबू के वर्धा-आगमन के समय स्टेशन पर



१९३० के राष्ट्रीय आंदोलन में जेल जानेवाली बहनें
(दांए कोने में जानकीदेवीजी और उनके पास जमनालालजी की बहन केसरबाई बैठी हैं)



बजाज परिवार के कुछ सदस्य मीराबहन (बाएं ओर खड़ीं) तथा खान अब्दुल गफ्फार खां की पुत्री मेहरताज (बाईं ओर कुर्सी पर) व पुत्र अब्दुलअली (नीचे की पंक्ति में बाएं) के साथ।



सत्याग्रही जमनालालजी
जयपुर-सत्याग्रह के समय शासनाधिकारियों की जोर-जबरदस्ती से आहत
(बनियान पर खून के धब्बे पड़े हैं)



बजाजवाड़ी में : सामूहिक भोजन





वर्तमान बजाज-परिवार के बीच बजाजवाड़ी में पं. नेहरू तथा पं. रविशंकर शुक्ल

से लगा लिया। इससे मदालसा को मानो आत्मीयता मिल गई। इस समय मदालसा के पिताजी ने मदालसा के चेहरे और आंखों के भावों को पढ़कर कहा कि इसकी मां तो इसके लिए सास के समान है और आज इसने मां पाई है। मदालसा की ससुराल के लोग बड़े ही संस्कारी और भले स्वभाव के मिले। उसके जैसी भावना-प्रधान लड़की को तो उनके घर के प्रेम और सौजन्य भरे वातावरण ने मोह लिया। मदालसा के लिए जो चिंता रहती थी वह दूर हो गई। श्री लक्ष्मीनारायण मंदिर के दर्शन कर जब वर-वधू मण्डप में आए तब बापू ने सदा की तरह उपदेश करते हुए कहा कि तुमको इस लड़की के अनुकूल बनकर ही चलना है, इसके विचारों पर किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए।

विवाह के समय अचानक तार आया कि श्री शारदादेवी बिड़ला, व्यंकटलाल पित्ती के साथ आ रही हैं। इस खबर से जमनालालजी का खुश होना स्वाभाविक था, पर उनको अचरज भी हुआ। विवाह में ज्यादा लोग बुलाना या ठाठ से ब्याह करना वे समाज-हित की दृष्टि से ठीक नहीं समझते थे। इसलिए अपने निकटस्थ मित्रों तथा आत्मीय जनों को भी आमंत्रण देने में सकुचाते थे। आशीर्वाद की पत्रिका भेजते थे। पर मेहमानों का आना तो अच्छा लगता ही था। फिर बिड़लाजी का बहुत सम्बन्ध था, इसलिए शारदादेवी के आने से हम सबको बहुत खुशी हुई।

शारदादेवी ने आते ही मुझसे पूछा कि मदालसा के लिए कुछ साड़ियां तैयार की हैं? वे जानती थीं कि ऐसे मामलों में मैं कितनी अव्यावहारिक हूं। मैंने कह दिया कि खादी-भण्डार तो घर में ही है। जो चाहे सो ले लेगी। शारदा बहन ने उलाहना दिया, "जानकी-बहन, तुम मां हो, कल लड़की ससुराल जायगी तो चार साड़ी तो अच्छी तैयार करवानी थी। मैं निरुत्तर हो गई। पर तुरन्त याद आया कि कलकत्ता में स्टेशन पर सावित्री की मां की पेटी में खादी की कुछ साड़ियां हैं। मैंने कहा कि सावित्री से साड़ियां निकलवा ली जायं। उनमें से दो दादीजी को दे दी गईं, एक ननद, एक-एक भाभी और बड़ी दादी को। बची अब दो, वे मदालसा की पेटी में रख दी गईं।

होने के
मिश्री के
है। लेकि
है, यह
भी होता है
वृत्ति बन

अपने पोते
बात की
की। जब
और हम उनके पा
थे, लेकिन आप
अवस्था की वह बात अ
मेरा स्वभाव ही
सार-सम्हाल का मैं ब
नहीं रखती और सोच
है। सौ का नोट f
माना देना मेरे लिए
बापू भी 'कंजूसों
मुझमें जमीन आसमान
उपयोग करते थे, निमंत्रण
कर लौटा देते थे, एक-एक

विनोबाजी, काका कालेलकर आदि को पहले से ही वरधा ले आए थे। जगह-जगह से और भी गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ताओं को लाकर अनेक काम शुरू करवा दिये थे। धीरे-धीरे ऐसा वातावरण पैदा हुआ कि बापूजी ने वरधा को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया।

सरदार वल्लभभाई को यह अच्छा नहीं लगा। यह स्वाभाविक भी था। वह हमेशा बापू से झगड़ते रहते और उलाहना देते रहते कि बम्बई और गुजरात छोड़कर इस गड्ढे में आकर बसे हैं, जहां न कोई राज-तिक जागृति है और न काम के अनुकूल वातावरण।

बापूजी को वरधा में बसाने से जमनालालजी की मनभाती बात तो ई, लेकिन उनकी जिम्मेदारियां बहुत बढ़ गईं। बापू के विधायक ठीक तरह से चलें, इसलिए साधन और व्यक्तियों को जुटाना तथा ानेवाले मेहमानों की अच्छी व्यवस्था रखना आसान बात नहीं थी। ह इस काम में जुट गए, अपने आपको उन्होंने बापू में ही मिला ह बापू में ही लीन हो गए। गांधीजी को वहां बसाने पर के लिए जमनालालजी ने अपना बगीचा उनको सौंप दिया। समय करीब एक लाख की कीमत का था और गांव के लोग वहां ौर घूमने जाते थे। जब जमनालालजी ने यह बगीचा गांधीजी निर्णय किया तब दूकानवाले सभी लोग नाराज हो गए वनी मच गई कि यह गांधी कहां से आ गया ? इसे तो पना सबकुछ लुटा देंगे। उनके मन में जमनालालजी के न अधिक रहता था। वे गांधीजी तथा उनके कामों के

गीचा दिया, उधर तीसरे ही दिन ७५ हजार की वसूल होने की आशा नहीं-सी थी। सेवाग्राम का उसे रहन रखकर कर्ज दिया गया था। कर्जदार सका देहान्त हो गया। उसकी विधवा पत्नी बरदस्ती या दावा-फरियाद जमनालालजी नहीं विधवा के मन में भगवान जागा और उसने मेरे पति भी गए, न मालूम मुझे कब जाना

: २६ :

मेरी कंजूसी

जमनालालजी की धर्मपत्नी होने के कारण देश में मेरा नाम भी बहुत-से लोग जानने लगे थे। मिश्री के साथ सूत भी मीठा हो जाता है और मिश्री के भाव बिकता है। लेकिन जिस वृत्ति के कारण मेरी प्रसिद्धि रिश्तेदारों के बीच है, वह तो है कंजूसी। इस कंजूस वृत्ति के कारण मेरा मजाक भी होता है। लोग परेशान भी होते हैं, उलाहना भी देते हैं; लेकिन जो वृत्ति बन गई है, उससे छुटकारा पाना भी मुश्किल ही है।

जब मैंने अपने पोते राहुल से पूछा कि बेटा, बताओ तुम्हारे मन पर मेरी कौन-सी बात की छाप पक्की जमी है, तो उसने कहा—"आपके कंजूसपने की। जब दादाजी (जमनालालजी) गोपुरी में रहते थे और हम उनके पास जाते थे तब वह हमें बिस्कुट आदि देना चाहते थे, लेकिन आप नहीं देने देती थीं।" तीन-चार वर्ष की अवस्था की वह बात अब भी उसको याद है।

मेरा स्वभाव ही कुछ ऐसा हो गया है कि छोटी-मोटी चीजों की सार-सम्हाल का मैं बहुत ध्यान रखती हूँ। बड़ी चीज का उतना ध्यान नहीं रखती और सोच लेती हूँ कि बड़ी चीज तो कोई भी सम्हाल सकता है। सौ का नोट निकालकर देना मेरे लिए सरल है, लेकिन आना दो आना देना मेरे लिए कठिन है।

बापू भी 'कंजूसों के सरदार' के रूप में प्रसिद्ध थे। लेकिन उनमें और मुझमें जमीन आसमान का अन्तर है। वह आये हुए लिफाफों का भी उपयोग करते थे, निमंत्रण-पत्रिकाओं पर ही आशीर्वाद और संदेश लिखकर लौटा देते थे, एक-एक आलपीन को भी बचा लेते थे। परन्तु बापू

अपनी कंजूसी को ऐसा बढ़िया रूप देते कि सामनेवाला भी संतुष्ट हो जाता और सबक सीखकर लौटता। मेरे पास तो ऐसी कोई कला है नहीं। तब होता यह है कि मेरी भावना एक होती है और सामनेवाले पर असर कुछ दूसरा ही होता है। फिर भी इतना समाधान अवश्य है कि इतनी बड़ी दुनिया में कम-से-कम बापू ने तो मेरी कंजूसी की सराहना की थी। कंजूस की भाषा कंजूस ही समझ सकता है। उन्होंने तो मुझे सर्टिफिकेट भी दिया था।

बापू का एक ऊनी कम्बल छलनी-जैसा हो गया था। मैंने वह रफू करके और उसपर खादी सीकर उनके पास भेज दिया। लन्दन की गोलमेज परिषद् में जब वह गए तब वही कम्बल उनके पास था। उन्होंने २०-८-१९३२ को जेल से मुझे एक पत्र लिखा, जो इस प्रकार है :

चि० जानकी मैया,

खूब! आखिर पेंसिल से दो सतरें लिखने की तकलीफ की तो! जेल जाकर भी आखिर आलस्य नहीं गया न? 'अ' वर्ग देने में ही भूल हुई। 'क' वर्ग देकर खूब काम कराना चाहिए था! आलस्य का तो ठीक, परन्तु अब शरीर की हालत ठीक कर लेना। पत्र बराबर नहीं आएंगे तो सजा मिलेगी। पुरानी कमली, जिसपर तुमने खादी सीकर नई बनाई थी, वह राजमहल[1] में हो आई, यह बात मैं कह चुका हूं न? यहां तो वह है ही। अभी तो बहुत चलेगी।

—बापू के आशीर्वाद

विनोबाजी भी बड़े सूक्ष्मदर्शी हैं। मेरी वृत्ति का रहस्य उनसे कहां छिपा रह सकता था! एक बार मैं विनोबाजी के साथ सर्वोदय-प्रदर्शनी में जा रही थी। वहांपर पुराने वस्त्रों को फाड़-फाड़कर उनसे गलीचा बनाने का प्रयोग बताया जा रहा था। देखकर विनोबाजी ने कहा, "यह तो जानकीबाई की मन-लगती बात हो रही है।"

---

[1] लंदन में बापू उसी कमली को ओढ़कर पांचवें जार्ज से मिलने बकिंघम राजमहल में गये थे। उसका यह जिक्र है।

—संपादक

छोटी-छोटी चीजों को सम्हालने की वृत्ति को देखकर ही बापू ने मुझे सेवाग्राम में फल सम्हालने का काम सौंपा था।

जरूरत हो या न हो, कुछ ऐसी आदत हो गई है कि फल तो मैं खरीद ही लेती हूं और सो भी टोकरी-भर! पर खरीदते समय मोल-तोल करने का स्वभाव पड़ गया है। बापूजी कहा करते थे कि गरीब को आना-दो आना कम देने में क्या फायदा! विनोबाजी भी कहते हैं कि गरीबों से भाव-ताव करना ही नहीं चाहिए, बल्कि जितना वे कहें, उससे कुछ अधिक ही देना चाहिए। गरीब लोग अपनी मेहनत की सही कीमत नहीं आंक पाते, इसलिए हमें ही सोच-समझकर उनको वाजिब और कुछ अधिक दाम देना चाहिए। सर्वोदय का अर्थशास्त्र तो यही है। मेरे मन में तो ऐसा ही करने की भावना उठती है, पर आदत जो पड़ गई सो छूटती ही नहीं।

टोकरी भर फल लेने के बाद उनके उपयोग में वही कंजूसी! जब सड़ने लगते हैं तब छाट-छांटकर सड़े-गले अलग करती हूं और अच्छे-अच्छे अलग रखती हूं। सड़े फलों का उपयोग करती-कराती रहती हूं। कमलनयन तो कहा करता है कि यह सड़ने का सिलसिला इस तरह खत्म नहीं होगा; क्योंकि सड़े-गले का आज उपयोग होगा, तबतक कल दूसरा सड़-गल जायगा!

हम लोग काश्मीर से अमरनाथ गए थे। किसी विश्राम-गृह में ठहरे। वहां दस्तखत करने थे। किसी के भी पास पेन या पेन्सिल न निकली। आखिर मैंने अपने ऐनक के घर में से पेंसिल का छोटा-सा टुकड़ा निकाल दिया। लिख चुकने पर राम ने कहा कि मां की पेंसिल लौटा देना, नहीं तो वह परेशान हो जायगी।

एक बार मैं विनोबाजी के साथ पैदल-यात्रा कर रही थी। किसी के पैर में कांटा चुभ गया। मैंने सूई निकालकर दे दी। वह टूट गई तो दूसरी दी। मैंने कहा, "वापस कर देना।" साथी को अचरज हुआ कि एक सुई के लिए मैं इतनी परेशान क्यों होती हूं। मुझे यह बात खटकी। जहां सुई का काम हो, वहां तलवार क्या कर सकती है! आजकल छोटी-छोटी चीजों के प्रति उपेक्षा देखकर मन को बुरा लगता है।

कम खर्च में अगर काम चलता हो तो मैं अधिक खर्च करना पसन्द नहीं करती। मिट्टी से काम चलता है तो साबुन क्यों खर्च किया जाय? राख से दाँत साफ किये जा सकते हैं तो मंजन का उपयोग नहीं करती।

एक बार मैं ऋषभदासजी के साथ बजाजवाड़ी आ रही थी। रास्ते में उनकी पत्नी ने कहा, "ताँगा बुला लो।" पर ऋषभदासजी और मैं दोनों एक ही स्वभाव के ठहरे। उनको बच्छराज-भवन जाना था। रास्ते में मैं और वह अलग-अलग हो गए। मैं थोडी ही दूर गई हूँगी कि रास्ता भूल गई। पचासों बार उस रास्ते बजाजवाडी गई हूँगी, पर उस दिन तो पता नही क्या हो गया! किसी से पूछने की हिम्मत भी नही होती थी। मैं भले ही किसी को पहचानती न होऊँ, पर गाँव के लोग तो मुझे पहचानते ही थे। मैं कैसे पूछूं कि बजाजवाडी का रास्ता किधर है। लोग क्या कहेंगे कि अच्छी सेठानी हैं कि बरसों से वर्धा में रहती हैं, पर अपने बंगले का रास्ता भी नहीं जानती! इधर-से-उधर और उधर-से-इधर चक्कर लगाती रही। आखिर एक पाँच वर्ष के लड़के से पूछा—"बेटा, ज्ञान-मंदिर का रास्ता कौन-सा है?" उसने सरल भाव से कह दिया—"बजाजवाड़ी के सामने ही तो है!" अब मैं क्या कहती! यह तो मैं भी जानती थी। आखिर उधर से एक ताँगा निकला, जिसमें मैं चुपचाप बैठ गई और बजाजवाड़ी जाने पर उसने आठ आने माँगे तो दे दिये। मैं जानती थी कि चार आने से अधिक नही दिये जाते, परन्तु उस समय मेरी जो हालत थी उसमें यही हो सकता था। शुरू में ही ताँगा कर लेती तो कुछ दूर पैदल भी नहीं जाना पड़ता और यह परेशानी भी न होती।

लेकिन जहाँ मैं एक पैसे का विचार करती हूँ, वहाँ हजारों के विषय में मुझे चिन्ता होती ही नही। बड़ी चीज का लोभ भी मुझे नही रहता। सीकर में जब हमारा कमरा बना तब वह बस्ती के बाहर था, लेकिन बस्ती बढने के बाद वह खुले में न रह गया। खुली हवा की कमी थी। नहाने और पाखाने की भी ठीक व्यवस्था नही थी। मारवाड में निवटने के लिए पुरुष लोग जंगल में जाते हैं और स्त्रियाँ नोहरों में ही बैठ जाती हैं। संडास बहुत

कम होते हैं। हमारे कमरे में संडास तो था, फिर भी कमरे को व्यवस्थित और सुभीते से रहने लायक बनाने के लिए २०,०००) का खर्च था। जमनालालजी ने सोचा कि इसको बेचकर शहर के बाहर सुभीते का मकान बनाया जाय। उन्होंने सीकर के अधिकारी से कहा कि बंगला लेकर स्टेशन के पास कोई जगह दे दी जाय। उसने बंगला लेकर अतिथि-गृह देने की बात कही। बंगला देकर ऊपर से १३,०००। देने की बात थी। मैं उन दिनों वहीं थी। मुझसे अतिथि-गृह देखने के लिए कहा गया। मैं देखने गई। अतिथि-गृह के अहाते में बगीचा था और मकान भी बहुत बड़ा तथा सुभीते का था, पर मैंने सोचा कि इतना बड़ा मकान लेकर क्या करेंगे? कभी महीना-पन्द्रह रोज आकर रहेंगे तो रहेंगे; इसे सम्हालने के लिए ही पांच सात नौकर रखने पड़ेंगे। इसलिए मैंने इन्कार कर दिया। अगर वह खरीद लिया जाता तो सुविधा तथा आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभप्रद रहता, पर झंझट बढ़ाना भी मुझे अच्छा नहीं लगता।

सीकर के अतिथि-गृह की तरह बम्बई में भी एक मकान कर्ज में आ रहा था। मुझे वह देखने के लिए भेजा गया। उस मकान का ठाठ-बाट और फर्नीचर देखकर मैं तो मकान को अन्दर से देखे बिना ही लौट आई। मैंने यही सोचा कि अगर हम यहाँ रहेंगे तो बच्चों पर वातावरण का असर पड़े बिना नहीं रहेगा और बम्बई में मकान होने पर रहने के लिए आने का मोह भी हो सकता है।

मेरे कम खर्चीले स्वभाव के कारण साथ वालों को कभी-कभी बड़ी परेशानी हो जाती। एक बार स्टेशन जाना था, दोपहर का समय था। मेरे साथ ननदोई डेडराजजी भी थे। मुझे तो धूप में चलने की आदत थी, पर वह बहुत परेशान हो गए। स्टेशन पहुंचते-पहुंचते वह तो पसीने से तर हो गए। बोले—"मैं तो आगे से कभी सेठानीजी के साथ नहीं जाऊँगा! बड़ी कंजूस है। इनसे तो ताँगे के पैसे भी नहीं खरचे जाते।" उनका गरम होना स्वाभाविक था, पर मैं जो अपनी आदत से लाचार थी।

और तो क्या, आज भी जमनालालजी सपने में मुझे कंजूसी का उलाहना देते दिखाई देते हैं। अभी-अभी की बात है कि उन्होंने मुझे स्वप्न में कहा कि देखो, मेहमान आए हैं, उन्हें अच्छे-अच्छे फल छांटकर देना,

अपने स्वभाव-जैसा मत करना। उन्होंने यह कहा तो, फिर भी उनको मानो लग रहा था कि मैं वैसा करूंगी नहीं।

बापू कंजूस थे और मैं भी। पर बापू दूसरे की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखते थे और वह सोच-समझकर कंजूस थे। मेरे पास तो केवल आदत है, जिसमें न दूसरे की सुख-सुविधा का भान है, न समय-सूचकता पर करूं क्या, 'ज्यां को पड्यो स्वभाव, जासी जीवसूं।'

: २७ :

बापू वरधा आए

जमनालालजी के मन में साबरमती की तरह वरधा में भी सत्याग्रहाश्रम खोलने की इच्छा थी। इस बारे में उन्होंने बापूजी से बात की। बापूजी ने विनोबाजी तथा उनके साथियों को वरधा भेज दिया। पहले उन सबको बगीचे में उतारा गया, फिर वे बजाजवाड़ी में रहने लगे। आश्रम शुरू में बजाजवाड़ी में रहा, फिर, जहाँ आज महिलाश्रम है वहाँ चला गया। यद्यपि जमनालालजी की आश्रम-सम्बन्धी इच्छा तो पूरी हो गई थी, तथापि इतने से ही उन्हें सन्तोष न हुआ। कुछ दिनों बाद उन्होंने वर्ष भर में एक महीना वरधा में रहने का बापू से वचन लिया। उसके बाद बापूजी हर दिसम्बर में कांग्रेस जाने के पहले वरधा आकर रहने लगे। जब बापूजी वरधा रहते तब नेताओं और कार्यकर्त्ताओं का मेला-सा लगा रहता।

नमक-सत्याग्रह के बाद बापू ने जबतक आजादी न मिले तबतक साबरमती न लौटने का प्रण किया; तब प्रश्न उठा कि अब बापू कहाँ रहें। बापू को तो सभी प्रान्तवाले अपने यहाँ बुलाने को उत्सुक थे, पर गुजरातवाले और खासकर सरदार चाहते थे कि बापू गुजरात में ही रहें। उनका कार्यक्षेत्र भी प्रारम्भ में गुजरात ही रहा था। गुजरात के लोगों की उनपर अटूट भक्ति थी। उनके कार्यों और आन्दोलनों को गुजरात ने शुरू में ही अपनाया था। इसलिए सरदार वल्लभभाई पटेल ने प्रयत्न किया कि बापू गुजरात में ही रहें और बारडोली को अपना केन्द्र बनावें। पर जमनालालजी बापू को वरधा लाना चाहते थे। यद्यपि महाराष्ट्र में गांधीजी के सिद्धान्तों के अनुकूल वातावरण नहीं था, फिर भी जमनालालजी के कारण उन्होंने वरधा को पसन्द किया। जमनालालजी

विनोवाजी, काका कालेलकर आदि को पहले से ही वरधा ले आए थे। जगह-जगह से और भी गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ताओं को लाकर अनेक काम शुरू करवा दिये थे। धीरे-धीरे ऐसा वातावरण पैदा हुआ कि बापूजी ने वरधा को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया।

सरदार वल्लभभाई को यह अच्छा नहीं लगा। यह स्वाभाविक भी था। वह हमेशा बापू से झगड़ते रहते और उलाहना देते रहते कि बम्बई और गुजरात छोड़कर इस गड्ढे में आकर बसे हैं, जहां न कोई राजनैतिक जागृति है और न काम के अनुकूल वातावरण।

बापूजी को वरधा में बसाने से जमनालालजी की मनभाती बात तो हो गई, लेकिन उनकी जिम्मेदारियां बहुत बढ़ गईं। बापू के विधायक काम ठीक तरह से चलें, इसलिए साधन और व्यक्तियों को जुटाना तथा आने-जानेवाले मेहमानों की अच्छी व्यवस्था रखना आसान बात नहीं थी। परन्तु वह इस काम में जुट गए, अपने आपको उन्होंने बापू में ही मिला दिया—वह बापू में ही लीन हो गए। गांधीजी को वहां बसाने पर ग्रामोद्योग के लिए जमनालालजी ने अपना बगीचा उनको सौंप दिया। बगीचा उस समय करीब एक लाख की कीमत का था और गांव के लोग वहां नहाने-धोने और घूमने जाते थे। जब जमनालालजी ने यह बगीचा गांधीजी को सौंपने का निर्णय किया तब दूकानवाले सभी लोग नाराज हो गए और उनमें खलबली मच गई कि यह गांधी कहां से आ गया? इसे तो जमनालालजी अपना सबकुछ लुटा देंगे। उनके मन में जमनालालजी के हित का ही खयाल अधिक रहता था। वे गांधीजी तथा उनके कामों के महत्व को क्या जानें?

एक ओर तो यह बगीचा दिया, उधर तीसरे ही दिन ७५ हजार की ऐसी वसूली हुई, जिसके वसूल होने की आशा नहीं-सी थी। सेवाग्राम का नाम पहले सेगांव था। उसे रहन रखकर कर्ज दिया गया था। कर्जदार गांव का पटेल था। उसका देहान्त हो गया। उसकी विधवा पत्नी थी, जिसपर कोई जोर-जबरदस्ती या दावा-फरियाद जमनालालजी नहीं करना चाहते थे। पर उस विधवा के मन में भगवान जागा और उसने जमनालालजी से कहा कि मेरे पति भी गए, न मालूम मुझे कब जाना

पड़ेगा, इसलिए आप कर्ज में सेगांव लेकर मुझे मुक्त कीजिए।

यह घटना देखकर दूकानवाले दंग रह गये। कहने लगे—"जमनालालजी के भाग्य को कोई नही जान सकता। एक हाथ से देते हैं और दूसरे से मिल जाता है।"

बगीचा सौंपने के बाद बापूजी ने जमनालालजी से कहा कि खादी के साथ-साथ ग्रामोद्योग भी चलाने होंगे। हमें गांवों को स्वावलम्बी बनाना है। इसलिए यहां ग्रामोद्योगों के प्रयोग शुरू करना तय हुआ। गांधीजी के एकनिष्ठ कार्यकर्त्ता और भतीजे श्री मगनलालभाई गांधी की मृत्यु बिहार में पहले हो गई थी। जमनालालजी को इसका काफी दुःख हुआ था और वह मगनलालभाई की स्मृति में योग्य स्मारक बनाने की सोचते रहते थे। इसलिए उन्होने उस बगीचे का नाम 'मगनवाड़ी' रखने की घोषणा की और वह बापू को भी पसन्द आ गई। ग्रामोद्योगों के प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री और कार्यकर्त्ता श्री जे. सी. कुमारप्पा को बापूजी ने यहां लाकर बैठाया-बसाया।

बापू को जगह-जगह से हाथ की बनी चीजों की भेंटें मिलती थीं, उनके संग्रह की जरूरत थी। इसलिए मगनवाड़ी में ही एक संग्रहालय बनाया गया, जिसका नाम भी 'मगन-संग्रहालय' रखा गया। उसमें गांधीजी को भेंट में मिली वस्तुओं के साथ-साथ खादी और ग्रामोद्योग की सारी सामग्री रखी गई। बापू भी आनेवालों से कहा करते कि मगन-संग्रहा-लय देखें।

उन दिनों बापू ग्राम-उद्योग और गांवों की सेवा वगैरा पर बहुत जोर देते थे। इस कारण बापू ने वर्धा-जैसे छोटे शहर के बजाय गांव में रहने का तय किया। वे सेगांव रहने चले गये। बाद में उसका नाम सेवाग्राम पड़ गया। बापू के लिए पहले वहां एक झोंपड़ी ही बनी थी। उसीमें एक ओर बा और मीराबहन का निवास था और दूसरी ओर बापूजी का। महा-देवभाई रोज वर्धा से आते-जाते थे। बाद में बा के लिए अलग झोंपड़ी बनाई गई।

गांव में बापू को बड़ी असुविधा और कष्ट उठाना पड़ा। बापूजी के साथ एक हरिजन भी था। गांव के कुएं से औरों के साथ वह भी पानी भरता

। गाँववालों ने उस कुएँ का पानी पीना छोड़ दिया। बापू की हजामत गांव के नाई ने दो साल तक नहीं बनाई। गाँव के लोग कहते थे कि पू की हजामत करने में तो हर्ज नहीं, पर उनके साथ हरिजन जो रहता ! इसलिए हम अगर बापू को छुएँगे तो जातिवाले बहिष्कार कर देंगे।

बापू के सेगाँव जाने पर तो सरदार और भी बिगड़ गए। उनका कहना ा कि ऐसी जगह, जहाँ न सड़क हो और न तार-टेलीफोन की सुविधा, हाँ बापूजी का रहना ठीक नहीं है। अगर कभी मौका आवे तो क्या र सकते हैं ? न आपका हमको उपयोग हो सकता है, न हमारा आपको। हाँ बापूजी को बहुत तकलीफ होगी।

यह ठीक भी था। बापूजी से मिलने आने वालों को बड़ा कष्ट होता । एक बार मैसूर की महारानी बापूजी से मिलने आईं। बैलगाडी में वाग्राम गईं। बारिश में कपड़े भीग गये। सेवाग्राम में मीराबहन के पड़े लेकर पहने। लौटते समय बैलगाड़ी कीचड़ में फँस गई, तब उन्हें तरकर पैदल चलना पड़ा। ऊपर से बारिश हो रही थी। पैरों में ऊँची ड़ी के सैंडल थे, जो कीचड़ में वजनदार हो गए और चलना कठिन हो या। महारानी गीले कपड़ों और कीचड़ में लथपथ वरधा पहुँची। यहाँ ाने पर गरम पानी में नमक डालकर सेंका गया। कपड़े बदले। यह कहने लगी—"यदि यह घटना मैसूर में होती तो मैं पन्द्रह दिन बिछौने से ठ न पाती, पर यहाँ तो मैं दूसरे ही दिन तैयार हो गई हूँ।"

आखिर बापू की अनिच्छा रहते हुए भी सड़क बन गई, डाकखाना खुल गया और टेलीफोन भी लग गया। धीरे-धीरे मकान भी बने और सेवाग्राम के आश्रम का काम बढ़ता ही गया। बापूजी पक्का मकान बनाने नहीं देते थे, इसलिए उनके बिना पूछे ही जमनालालजी ने वरधा से नागपुर के रास्ते पर थोड़ी दूर पौनार में टेकड़ी पर एक बँगला बनाया। उनका उद्देश्य यह था कि तैयार होने पर उन्हें वहाँ ले चलेंगे। बँगला तैयार हुआ और बापू को वहाँ दिखाने ले गए और जब वहाँ रहने की बात कही तो बापू बोले—"नागपुर की सड़क होने से आना-जाना बना रहेगा और फिर वहाँ देहात में रहने का लाभ थोड़े ही मिलेगा।"

बापूजी के वरधा आने पर वहाँ नेता और कार्यकर्ता आने-जाने लगे

: २८ :

सीकर और जयपुर

बजाज-कुटुम्ब राजस्थान में सीकर का रहनेवाला है। सीकर जयपुर राज्य का एक बहुत बड़ा ठिकाना था। सीकर के राजा रावराजा कहलाते थे। उनके अधिकार भी जागीरदारों से अधिक थे। हम लोग यद्यपि वरधा में बस गए थे, फिर भी सीकर आना-जाना रहता ही था और वहाँ हमारा एक मकान भी था, जो 'कमरा' के नाम से प्रसिद्ध था। वहाँ के सार्वजनिक कार्यों और हलचलों में भी जमनालालजी का हाथ रहता था। जमनालालजी की ओर से, वहां एक दवाखाना और हरिजन-स्कूल भी चलता था।

सीकर की जलवायु सूखी और स्वास्थ्यप्रद होने के कारण कुछ दिनों के लिए श्रद्धेय राजेन्द्रबाबू भी वहाँ एक-दो बार रहे थे। विनोबाजी भी सीकर गए थे।

सीकर के रावराजा भले स्वभाव के थे और प्रजा के साथ सहानुभूति रखते थे। उनके तथा जयपुर राज्य के बीच आपसी अधिकारों को लेकर कुछ-न-कुछ चखचख चलती ही रहती थी। रावराजा के उदार स्वभाव को जयपुर राज्य तथा अंग्रेज अधिकारी पसन्द नहीं कर सकते थे। इस तरह दिनोंदिन मनोमालिन्य बढ़ता ही गया। कहने के लिए तो राजा प्रजा के मालिक माने जाते थे, पर उन दिनों सच्ची सत्ता अंग्रेजों के हाथ में ही रहती थी। राज-काज उनके रेजिडेंटों के इशारों पर चलता था। जमनालालजी कहा करते थे कि देशी राज्यों की प्रजा दोहरी गुलाम होती है। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि देशी राज्यों की प्रजा में जाग्रति हो और राजा का प्रजा के साथ विशेष सम्पर्क भी वे पसन्द नहीं करते थे। इस कारण जयपुर राज्य और उसके प्रधान अंग्रेज अधिकारियों ने सीकर

श्रौर उनका विशेष सम्पर्क बढ़ा। जब कोई नेता बीमार होता तो जमनालालजी उन्हें बुला लेते। किसीको किसी तरह की श्रड़चन होती तो उन्हें बुला लेते। सरहदी गांधी श्रब्दुल गफ्फारखां को सरहद प्रान्त में जाने की मनाही की गई तो जमनालालजी उन्हें श्रपने यहां श्राग्रहपूर्वक ले श्राए। दोनों खान-बन्धु, उनके लड़के-लड़कियां छह महीने यहां रहे। राजेन्द्र बाबू को भी जब कभी दमे की बीमारी उभड़ती, वे यहां रहने श्रा जाते। जमनालालजी को इससे प्रसन्नता होती कि उन्हें इस तरह श्रपने देशभक्तों को रखने का मौका मिलता है।

: २८ :

सीकर और जयपुर

बजाज-कुटुम्ब राजस्थान में सीकर का रहनेवाला है। सीकर जयपुर राज्य का एक बहुत बड़ा ठिकाना था। सीकर के राजा रावराजा कहलाते थे। उनके अधिकार भी जागीरदारों से अधिक थे। हम लोग यद्यपि वरधा में बस गए थे, फिर भी सीकर आना-जाना रहता ही था और वहां हमारा एक मकान भी था, जो 'कमरा' के नाम से प्रसिद्ध था। वहां के सार्वजनिक कार्यों और हलचलों में भी जमनालालजी का हाथ रहता था। जमनालालजी की ओर से वहां एक दवाखाना और हरिजन-स्कूल भी चलता था।

सीकर की जलवायु सूखी और स्वास्थ्यप्रद होने के कारण कुछ दिनों के लिए श्रद्धेय राजेन्द्रबाबू भी वहां एक-दो बार रहे थे। विनोबाजी भी सीकर गए थे।

सीकर के रावराजा भले स्वभाव के थे और प्रजा के साथ सहानुभूति रखते थे। उनके तथा जयपुर राज्य के बीच आपसी अधिकारों को लेकर कुछ-न-कुछ चखचख चलती ही रहती थी। रावराजा के उदार स्वभाव को जयपुर राज्य तथा अंग्रेज अधिकारी पसन्द नहीं कर सकते थे। इस तरह दिनोंदिन मनोमालिन्य बढ़ता ही गया। कहने के लिए तो राजा प्रजा के मालिक माने जाते थे, पर उन दिनों सच्ची सत्ता अंग्रेजों के हाथ में ही रहती थी। राज-काज उनके रेजिडेंटों के इशारों पर चलता था। जमनालालजी कहा करते थे कि देशी राज्यों की प्रजा दोहरी गुलाम होती है। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि देशी राज्यों की प्रजा में जाग्रति हो और राजा का प्रजा के साथ विशेष सम्पर्क भी वे पसन्द नहीं करते थे। इस कारण जयपुर राज्य और उसके प्रधान अंग्रेज अधिकारियों ने सीकर

के रावराजा के साथ के झगड़े को बहुत बढ़ा दिया। सीकर के राजकुमार को शिक्षण के लिए विलायत भेजने के मामले को लेकर जयपुर राज्य के अधिकारियों ने रावराजा के कुटुम्बियों पर रेल में ही गोली चलवा दी। इस घटना से सीकर की प्रजा बहुत उत्तेजित हो गई और जयपुर राज्य के खिलाफ शस्त्रों से लड़ने की तैयारी शुरू कर दी।

इधर जयपुर राज्य के अधिकारियों ने भी अपनी सेना भेजकर सीकर-वालों को सेना तथा शस्त्र से दबाने की तैयारी की। दोनों ओर से मोरचे-बन्दी होने लगी।

मैं उन दिनों सीकर ही थी। केवल राजपूतों ने ही नहीं, ब्राह्मण, हरिजन, बनिया, मुसलमान सभी ने लड़ने की तैयारी कर ली थी। सीकर में अठारह दिन की जबरदस्त हड़ताल हुई। गाँव में उत्तेजना बहुत तीव्र थी। मैं घर-घर में जाकर लोगों को समझाती थी कि भयभीत न हों।

कमरे के सामने वाले मकान में स्त्रियाँ ही थीं। कमरे तथा राजकोठी के बीच मोरचा लग रहा था। रेती की थैलियाँ जमाई गई। सिपाही बाहर से नसैनी लगाकर छत पर तार बाँध रहे थे। मुझे ऐसा लगा कि शायद भीतर स्त्रियाँ डर रही होंगी, सो मैं भीतर गई और कहा—"आप लोग बिलकुल न घबराएँ। अगर सिपाही भीतर आ जायँ तो आप बाहर तो निकल ही सकती हैं, मैं भी घूम ही रही हूँ।" लेकिन औरतों को अज्ञान में रखने के कारण वे समझ ही नहीं पातीं कि किस समय क्या किया जाय।

एक बार मैं लोमल से सीकर आ रही थी। जयपुर राज्य के सिपाहियों को आदेश था कि अगर कोई आदमी बिना सूचना दिये सीकर जाय तो गोली चला दी जा सकती है। लेकिन मैं तो इस बात से जैसी अपरिचित ही थी और सीधी चली गई। सैनिकों ने भी शायद स्त्री समझकर मुझे चला जाने दिया होगा।

इस आपसी झगड़े को निपटाने के लिए जयपुर और सीकर दोनों तरफ से जमनालालजी के पास अनेक तार और चिट्ठियाँ आई थीं। राव-राजाजी का संदेशा भी पहुँचा था। जमनालालजी ने दोनों पक्षों से यह

जानना आवश्यक समझा कि अगर उनका उपयोग हो सके तो वे आवें, अन्यथा जाकर भी क्या होगा ? अन्त में उन्हे सीकर जाना पड़ा। एक बार तो जयपुर राज्य और रावराजा में समझौता भी हो गया।

फिर एक बार सीकर के रावराजा को अजमेर ले जाया गया और उन्हें 'पागल' ठहराकर सीकर राज्य की व्यवस्था 'कोर्ट ऑव वार्ड' के मातहत कर दी गई। इतना ही नहीं, रावराजा को जयपुर राज्य में प्रवेश करने की मनाही कर दी गई। इस बात से सीकर की प्रजा में काफी उत्तेजना फैल गई। जमनालालजी ने इस मामले में काफी समय और शक्ति लगाकर शांति से इसे सुलझाने का प्रयत्न किया और इस तरह खूनखराबी रुकी।

जमनालालजी जयपुर राज्य प्रजामण्डल के अध्यक्ष थे। जयपुर राज्य को उनका, संस्था का और कार्यकर्त्ताओं का बढ़ता हुआ प्रभाव अच्छा नहीं लगा। भीतर-ही-भीतर नाराजगी बढ़ती जा रही थी। एक बार जमनालालजी प्रजामंडल की कार्यकारिणी बैठक के लिए जयपुर जा रहे थे। वह बैठक अकाल-सहायता के सम्बन्ध में ही होने वाली थी। परन्तु सवाई माधोपुर में ही पुलिस के गोरे अधिकारी ने उनके सामने हुक्म रख दिया कि वह जयपुर राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते।

जमनालालजी को यह बात बहुत खटकी। उन्होंने पुलिस-अधिकारियों से कहा कि यह बात अनुचित है। लेकिन इन्सपेक्टर-जनरल यंग ने कहा कि अभी तो आप मान जायें और वापस चले जायें, मैं यह हुक्म रद्द कराने की कोशिश करूँगा।

जमनालालजी सत्याग्रह के महत्व को समझते थे, इसलिए उन्होंने पहली बार मौका दिया कि अगर समझौते का कोई मार्ग निकलता है तो ठीक है। अतः वह लौट आए। बापूजी की आज्ञा के बिना वह सत्याग्रह शुरू करना नहीं चाहते थे। लेकिन जयपुर राज्य के अधिकारियों ने जयपुर राज्य में खादी-कार्य करने वालों से आश्वासन माँगा कि वे प्रजामंडल से सम्बन्ध न रखें। इससे अधिकारियों की इच्छा साफ-साफ प्रजामंडल से झगड़ने की प्रकट हो गई। जमनालालजी की खुद की तैयारी तो जेल जाने की थी ही, लेकिन उन्हें इतने मात्र से ही सन्तोष थोड़े होने वाला

था। वह तो चाहते थे कि सत्याग्रह बराबर चलता रहे और इसकी उन्होंने पूरी तैयारी की। अन्त में बापू का आशीर्वाद लेकर उन्होंने १ फरवरी १९३८ के दिन जयपुर राज्य की आज्ञा का भंग करके राज्य की सीमा में प्रवेश कर दिया और इस तरह सत्याग्रह की शुरुआत हुई। पुलिस उनको पकड़कर मोटर द्वारा सीमा के बाहर छोड़ देती और वह पुनः भीतर प्रवेश कर जाते। जब उनसे दूसरी मोटर में से उतरने को कहा गया तब वह उतरे नहीं। जबरदस्ती उन्हें उतारा गया। उतरने की अनिच्छा के कारण, उतारते समय उनके खरोंच आ गई और कुरता भी फट गया।

इस तरह सीमा के बाहर छोड़ देने के कारण उन्होंने अन्न का त्याग कर दिया और केवल गाजर पर रहने लगे। तीसरी बार उन्हें गिरफ्तार करके जयपुर से चालीस मील दूर रखा गया। वहां वह बारह-बारह मील रोज घूमते थे। घी तो उन्होंने शरीर में चरबी की अधिकता के कारण छोड़ दिया था। पहरे वाले सिपाही जैसी मोटी रोटी अपने लिए बनाते थे, वही अपने लिए भी वह मंगा लेते थे। मोटी रोटी तथा सादा भोजन तो उन्हें हमेशा ही अच्छा लगता था। हां, मूंग की दाल उन्हें नहीं भाती थी, लेकिन उन दिनों तो जो भी मिल जाता, वही खा लेते। इस प्रकार के खाने से उनके मन को भले ही सन्तोष रहा हो, पर उसका शरीर पर परिणाम हुए बगैर कैसे रहता? रूखे-सूखे भोजन के कारण कमजोरी बढ़ गई। घूमते भी बहुत थे। अन्त में घुटने में दर्द बढ़ गया। इलाज कराया गया। पर इलाज के समय डाक्टर की गलती से बिजली से पैर जल गया। इलाज बिजली का चल रहा था। घाव हो गया। पर उन्होंने डाक्टर को अभय-दान दे दिया। चमड़ी जल गई और घाव हो गया। पर उन्होंने 'उफ' तक नहीं किया। उनकी प्रकृति ही कुछ ऐसी थी कि उन्हें अपने दुःख-दर्द की थोड़ी-सी भी परवाह नहीं होती थी। डाक्टर स्वयं हैरान रहते थे। जितने कठोर वह अपना दुःख-दर्द सहने में थे, उतने ही नरम दूसरों के दर्द के प्रति रहते थे। दूसरों का थोड़ा भी दर्द वह बरदाश्त नहीं कर सकते थे।

पैर में घाव होने के कारण उनको अब जयपुर के निकट रखना आवश्यक हो गया। उन्हें कर्णावतों के बाग में रखा गया।

जब वह मोरा सागर में रहते तब आसपास के गांवों में घूमते और

लोगों के सुख-दुःख की बातें ध्यानपूर्वक सुनते और जो कुछ उनसे बनता, वह करते। लोगों को शेर के शिकार का अधिकार न होने से शेरों का बहुत उपद्रव था। शेर जानवरों तथा आदमियों तक को ले जाते। इस बारे में उन्होंने राज्याधिकारियों से लिखा-पढ़ी की। इसी तरह जेयरा गाव में पानी का बहुत कष्ट था। उन्होंने कहा कि गाँववाले मिलकर कुआँ खोद लें। अपनी ओर से भी रुपयों का आश्वासन दिया।

इधर सत्याग्रह जोरों पर था। करीब पाँचसौ स्त्री-पुरुषों ने इसमें भाग लिया। श्री हीरालाल शास्त्री, राधाकृष्ण बजाज तथा उनके साथियों ने बहुत परिश्रम किया। बापूजी तथा जमनालालजी की इच्छा थी कि संख्या की अपेक्षा इसमें चुने हुए सत्याग्रही ही भाग लें।

जमनालालजी के जाने के बाद बात कुछ ऐसी हुई कि एक बार मुझे प्रजामंडल की अध्यक्षा बनना पड़ा। प्रजामंडल के सदस्यों में कुछ मतभेद था। शास्त्रीजी मेरे पास आए और बोले कि कोई रास्ता बैठाना है। मैंने कहा, "अगर मेरे अध्यक्ष बन जाने से दोनों पक्षों को समाधान होता हो तो मैं बन जाऊँ।" मै अपनी शक्ति को पहचानती तो थी, पर उनकी भावना समझकर मैंने कहा,"मेरा उपयोग करना चाहो तो कर सकते हो।" उन्होंने मुझे अध्यक्ष बना दिया।

देशी राज्यों के सत्याग्रह के सम्बन्ध में बापूजी की वाइसराय से भी कुछ बातें हुई थी। जब कहा गया कि आपस में समाधान हो जायगा, तब सत्याग्रह बन्द कर दिया गया। सत्याग्रही तथा जमनालालजी भी छूट गए। जयपुर राज्य और प्रजामंडल में समझौता हो गया। प्रजामंडल की बातें स्वीकार कर ली गईं। जमनालालजी ने वहाँ बहुत दिनों तक रहकर कार्य की व्यवस्था जमाई।

इस सत्याग्रह में जमनालालजी को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। एक प्रकार से उनकी कसौटी ही हुई। एक तो उनका स्वास्थ्य पहले ही कोई ठीक नहीं था, फिर जेल तथा घुटने की बीमारी और घाव से उनका स्वास्थ्य और भी गिर गया। लेकिन सारे कष्टों को सहकर भी उन्होंने आवेश या उत्तेजना में कोई काम नही किया और सत्याग्रह की भावना का पूरी तरह पालन किया। वे सदा संतुलित रहे।

: २९ :

'सोती सुन्दरी'

श्रोम् हमारी तीसरी लड़की थी। तीसरी लड़की होने से उसके प्रति जन्म से ही लापरवाही मेरे मन में रही। कमला बच्छराजजी के घर की प्रथम सन्तान थी, इसलिए उसके प्रति विशेष स्नेह था। मदालसा के और कमला के बीच कमलनयन हो गया था। इससे वह भी अखरी नहीं। श्रोम् आनन्दी और खेलने-कूदनेवाली थी। उसका शरीर बचपन से ही अच्छा रहा। वह स्वस्थ थी।

श्रोम् थैली में लिपटी हुई जन्मी, जिसे मारवाड़ी में 'कुतेवड़ो' कहते हैं। थैली फोड़कर उसे मेरी सास ने निकाला। बोली–"ए बाई, किसी गुलाब का फूल-सी सोवणी लागे, छोरी तो भागवान है।" एक तरह से यह बात ठीक भी थी। उस साल कमाई बहुत हुई थी। जमनालालजी ने श्रोम् के जन्म की खुशी में कुटुम्बवालों तथा नौकरों को बीमा-कम्पनी के शेयर भी बाँटे थे। उन्हें लड़कियाँ सदा से ही अच्छी लगती थीं।

बचपन से पूजा-पाठ और 'ओम्' का नियमित जाप करने की मेरी आदत थी। लेकिन जापे में पूजा-पाठ में अड़चन आने लगी। इस बात का मन में कुछ विचार रहता। सोचा कि इस लड़की का नाम श्रोम् रखा जाय तो 'ओम्' का जाप इस निमित्त से होता रहेगा। मैं उसे 'श्रोम्, 'श्रोम्' कहने लगी। यों उसका नाम ही श्रोम् पड़ गया।

मुझे बच्चों को मारने की आदत शायद नौकरों के कारण पड़ी। नौकर जब मेरी बात न सुनते या मेरा बताया हुआ काम मन के लायक न हो पाता तब मुझे गुस्सा आता। मैं उनपर चिढ़ती। पर चिढ़ने पर वह काम छोड़कर चले जायंगे, इस डर से गुस्से को दबाने की कोशिश करती, पर क्रोध न दबता तो बच्चों पर ही उतरता।

मैं नौ बरस की उमर में घर में आई थी। बीस साल की उमर तक घर में ऐसी रही कि कहाँ क्या हो रहा है, इसका मुझे पता ही न था। सब काम नौकर-नौकरानियाँ करती। एक तो मैं परदे में रहती थी, दूसरे मैं पूजा-पाठ, सीना-पिरोना और पढ़ाने में ही लगी रहती। मेरा नौकरों से कोई काम न पड़ता था। नौकरानियों से सम्बन्ध भी इतना ही था कि वे मेरा कुछ बंधा-बंधाया काम करतीं। मुझे कुछ कहने-सुनने का मौका ही न आता। उन्हें पगार (तनखा) दूकान से ही मिलती। इस तरह मुझे देने-लेने की आदत भी नहीं पड़ी। बच्चों के होने पर नौकरानियों से काम लेना पड़ा। डाक्टरनी ने कुछ ऐसे नियम बताए, जिनके अनुसार बच्चों का लालन-पालन करने की नौकरानियों को आदत नहीं थी। डाक्टरनी कहती, ये ठीक से काम नहीं करतीं। ऐसे करना चाहिए। बार-बार शिकायत सुनकर मैं नौकरानियों से कहती और जैसा कहती वैसा न होता तो चिढ़ती। नौकरानियां आपस में कहतीं कि सेठानी तो खुद समझती नहीं और हमसे कहती हैं, ऐसे करो, ऐसे मत करो—जैसे हमने बच्चे पाले ही न हों। हमसे नहीं होता ऐसा काम। जब वे झुंझलाकर जाने लगतीं तब डालूराम उन्हें समझाकर और कुछ अधिक लोभ देकर काम में लगाता। मैं तो लेना-देना जानती ही नहीं थी और उनपर चिढ़-चिढ़ किया करती, तब वे मेरी सुने भी क्यों ! मुझे कहा जाता कि इनको प्रेम से निभाना चाहिए, नहीं तो नौकरानियाँ आयंगी नहीं, तब मेरा गुस्सा बेचारे बच्चों पर निकलता। धीरे-धीरे मारने की आदत बढ़ गई और उसका सबसे ज्यादा शिकार बनी ओम्।

रामकृष्ण के जन्म की बात है। मैं जापे में थी। ओम् तो खेल में ही मस्त रहती थी। मैंने उसे किसी काम से बुलाया, वह जल्दी नहीं आई। जब आई तब मैंने इतने जोर से उसे मारा कि तपेली पिचक गई और मेरे हाथ को ऐसा झटका लगा कि उसका दर्द कई दिनों तक रहा और ठंड के दिनों में वह दर्द होता ही रहता। वर्षों तक मुझे मेरी ननद ने हलदी खिलाई, तब कहीं वह टूटा।

साबरमती-आश्रम में रहते थे, तब की बात है। ओम् के फोड़े और फुंसियां हो गई थीं। मैं उसे नहला रही थी। फोड़े धोते समय वह

रोई। मैंने उसे चुप होने के लिए कहा और फोड़े धोती रही तो वह और जोर-जोर से रोने लगी। मुझे गुस्सा आ गया। नहलाने का गिलास था, उसीको सिर में दे मारा। चोट आई और खून बहने लगा। मैंने चोट धोकर पट्टी बांधी। पट्टी भी खून से लाल हो गई। पर मेरे हाथ से छूटकर वह भागी और फिर खेलने चली गई। मैं डरी भी और मुझे रोना भी आया। जमनालालजी को इस तरह मारना-पीटना अच्छा नही लगता था। वह बापूजी के पास गए और बोले, "जानकीदेवी की बच्चो को मारने की आदत कैसे छूटे? उसने आज ओम् को मारा।" बापूजी ने उपवास करने को कहा। उन्होंने उपवास भी किया। उसका परिणाम भी मुझपर हुआ ही, पर मारना नही छूट सका।

ओम् पर मेरे मारने का या गुस्सा होने का विशेष असर नही होता था। एक बार तो उसने मुझपर नाराज होकर तीन दिन तक कुछ खाया-पिया ही नही। उन दिनों बजाजवाड़ी में मीटिंगों की धूम थी। एक के बाद एक मेहमानों की पगतें लगती और उठती। बच्चों के खाने-पीने की देख-भाल का समय ही न रहता था। लेकिन जब पता चला कि ओम् ने खाना नही खाया है तो मुझे डर लगा कि जमनालालजी को पता चलेगा और अनर्थ हो जायगा। तब ओम् को खाना खाने को राजी करने लगी। पर उसने अपना हठ न छोड़ा। लेकिन जब उससे कहा कि उसके काकाजी को पता चलेगा और उनके मन को बड़ी तकलीफ होगी तो यह दलील काम कर गई और ओम् ने खाना खा लिया। बच्चों में हमेशा यह भावना रही कि अपने काकाजी को किसी तरह का कष्ट न पहुँचे। तीन दिन से भूखी-प्यासी थी, पर किसीको उसके चेहरे या रहन-सहन से कुछ भी पता न चला। जमनालालजी की इच्छा थी कि बच्चे सस्कारी और व्यवस्थित बनें। उनमें समय की पाबन्दी आवे। घर पर रहकर यह होना कठिन लगा। साबरमती रखने में यह भी एक उद्देश्य था कि बच्चे वातावरण से तथा दूसरों के बच्चों से सीखें। दूसरों के बच्चे तो घंटी होने के पहले ही नहा-धोकर तैयार रहते और कक्षा में या प्रार्थना में साफ-सुथरे पहुँचते। हमारे तो जैसे रहते वैसे ही पहुँचते, इसलिए उन्हें लगा कि छात्रावास में बच्चो को रखने से उनमें व्यवस्थितता आयगी और सबके साथ रहने

की आदत पड़ेगी। इसलिए उन्होंने मदालसा और ओम् को 'शारदा-मन्दिर' में रखने का निश्चय किया। मैंने बच्चों की तैयारी की और कपड़े-सामान तथा उन्हें लेकर शारदा-मन्दिर गई। मदालसा तो मोटर में खुशी से आश्रम में गई, पर ओम् मोटर पकड़े रही। बड़ी मुश्किल से दो-तीन शिक्षिकाओं की मदद से उतारा और मैं मोटर लेकर वापस आई। उधर ओम ने ऐसा ऊधम मचाया कि शिक्षिकाएँ उसे वापस लेकर आईं। कुछ दिनों बाद समझा-बुझाकर बड़ी मुश्किल से उसे शारदा-मन्दिर में भिजवाया जा सका।

भले ही मैं उसपर गुस्सा होती या मारती, फिर भी वह मुझसे अलग नहीं रहना चाहती थी और मुझे भी उसे अलग रखना अच्छा नहीं लगता था। पर जमनालालजी को उसकी पढ़ाई की चिन्ता रहा करती। जमनालालजी तथा बापूजी ने जेल से चिट्ठी लिखकर कन्या-आश्रम में भेजने की सलाह दी। दूसरे दिन सवेरे की प्रार्थना के बाद उसे भेजना तय हुआ। रात को मुझे नींद न आई। कमलनयन और मदालसा तो आश्रम में थे ही, अब यह भी चली जायगी, यह सोचकर रोना आता था। मैं जब जोर से रोने लगी तब कमला ने आकर कहा—"माँ, तू क्यों रोवे है?" मैं बोली—"बाई, ओम् ने मायो कन्याश्रम में भेजे है, जिस्यूँ मनैं रोवणो आवे है।" तब कमला ने जाकर ओम् का कन्याश्रम जाना रुकवाया।

मेरा ओम् को मारना दादीजी (मेरी सास) को भी अच्छा नहीं लगता था। मेरे गुस्सा होते ही वह रोने लग जाती। उन्होंने कभी अपने बच्चों को नहीं मारा था। इसलिए मैं मारती तो वह रोने लगती थी।

बापूजी और जमनालालजी के जेल से छूटने पर बापूजी के हरिजन-दौरे की बात चली। सेठजी ने मुझसे पूछा कि ओम् को हरिजन-दौरे में बापूजी के साथ भेजा जाय तो कैसा रहे? मैंने कहा, बहुत अच्छा। मैं उसे बापूजी के साथ भेजने के लिए राजी हो गई, पर जमनालालजी को बापूजी से कहने में संकोच हो रहा था। बापूजी का दल छोटे-से-छोटा हो, ऐसा वह प्रयत्न कर रहे थे, लेकिन बापूजी के साथ जाने से उसका हित होगा, इसलिए वह बहुत संकोच के साथ बापूजी से बोले, "बापूजी, ओम् को साथ ले जानें में आप पर भार तो होगा ही, पर उसे लाभ होगा, इस-लिए साथ ले जा सकें तो अच्छा।" बापूजी बोले, "भले, एनो शो भार

भवानो, ए तो रमकड़ूं छे।" (कोई हर्ज नहीं। उसका भी कोई भार होगा। वह तो खिलौना है !)

एक वर्ष तक ओम् बापूजी के साथ रही। बापूजी ने उससे काम भी लिया और काम लेते-लेते उसे सिखाते भी रहते। उसे बहुत सीखने को मिला। बापूजी ने दौरे से जो पत्र लिखे थे, उसमें उन्होंने ओम् के आनन्दी और मस्त स्वभाव के बारे में लिखा था। वह काम हँसते-हँसते करती, पर उसने खाने-पीने या रहने-करने के बारे में कभी शिकायत नहीं की। बेफिक्र तो इतनी थी कि जहाँ भी सोने को मिलता, झट सो जाती। मोटर में बापूजी के पैरों के पास ही उनका सहारा लेकर सो जाती। बापूजी इसी कारण उसे 'सोती सुन्दरी' कहते थे। उसका वजन भी काफी अधिक था। यात्रा से काफी मोटी होकर लौटी। इसी दौरे में बापूजी पर पूना में बम फेंका गया था। ओम् भी साथ में थी। बापूजी और ओम् आदि साथ के लोग बच गए। बापूजी 'सोती सुन्दरी' के सिवा ओम् को 'पंडिता' भी कहते। पंडिता से उनका मतलब था दूसरे को उपदेश देने में कुशल। उसने बापूजी को अपना स्वास्थ्य अच्छा रखने के विषय में एक उपदेश-भरा पत्र लिखा था। उत्तर में बापूजी ने उसे पंडिता की पदवी दी थी।

एक बार बच्छराज कम्पनी के डायरेक्टर ने कपड़े की मिल लेने की सूचना दी। उनके आग्रह से जमनालालजी के मन में यह विचार आया कि ऐसी एक आदर्श मिल चलाई जाय, जिसमें मजदूरों को सब तरह की सहूलियतें हों। मुझे और बच्चों को यह बात अच्छी नहीं लगी। बापूजी के पास हम लोग गए। मैंने बापूजी से कहा, "जमनालालजी यह बला किसलिए ले रहे हैं ?" ओम् बोलने में कुछ ढीठ होने से बोली—"हम बाहर तो खादी के लिए प्रचार करते हैं, पर जब मिल होगी तो लोगों पर क्या असर होगा। आपको कांग्रेस के लिए पैसे चाहिए, इसलिए काकाजी को मिल लेने के लिए प्रेरित कर रहे हैं।" बापूजी ने जमनालालजी को पत्र लिखा कि उन्हें मिल नहीं लेनी चाहिए, पर जमनालालजी ने पत्र पहुंचने के पहले ही मिल न लेने का निर्णय कर लिया था। उनके सामने खादी का विचार था। उन दिनों बहुत सस्ते में मिलें मिल रही थीं और उनमें कमाई भी लाखों की थी।

ओम् को बापूजी की सलाह से पहले मद्रास में कुमारप्पाजी की बहन की संस्था में और उसके बाद मिसेस कजिन्स की सस्था में मदनापल्ली पढ़ने के लिए भेजा। मद्रास में जमनालालजी ने अंबुजम्मा को ओम् का स्थानीय पालक बनाया था। बापूजी ने आशा रखी थी कि वह वहां अंग्रेजी, संगीत आदि सीखेगी तथा संस्कृत उच्चारण अच्छे होंगे। जब वह मद्रास जाने लगी थी तब मैंने उसके साथ बहुत सामान बांध दिया था, काफी तैयारी की थी, तब जमनाललजीने हँसते हुए कहा था कि जब घर रहती है तब तो गुस्सा होती है, मारती है और जब बाहर जाती है तब सारा प्रेम उमड़ पड़ता है। ओम् की इच्छा से उसकी सहेली को भी इतनी दूर भेज दिया। इस तरह लड़कियों के मन की इच्छा पूरी करके जमनालालजी बच्चों को लाड़ से बिगाड़ते भी थे।

जयपुर-सत्याग्रह के समय जमनालालजी का आगरे में राजनारायणजी के कुटुम्ब से सम्बन्ध आया। घर के लोग भले और सस्कारी लगे। फिर जब राजनारायणजी के पिता स्वास्थ्य के लिए जुहू रहे तब जमनालालजी भी वहीं थे। उनसे अधिक सम्पर्क बढ़ा। बच्चों से भी उनका अधिक सम्पर्क आया। फिर जमनालालजी का विचार उस घर में से लड़का या लड़की लाने का हुआ।

जमनालालजी में आदमी को परखने की बहुत बड़ी शक्ति थी। यही कारण है कि उन्होंने लडके-लड़कियों के ऐसे संबन्ध जोड़े कि उनका जीवन सुखी बन सका। जब ओम् का संबंध राजनारायणजी से हुआ तब वह खादी नही पहनते थे, लेकिन बात-चीत से जमनालालजी ने जान लिया कि वह राष्ट्रीय विचार के हैं और गांधीजी की अच्छी बातों को अपना लेंगे। हुआ भी वैसा ही। वह अपने-आप खादी पहनने लगे और उनके घर में अधिक-तर खादी का ही उपयोग होता है। बच्चों तक को खादी पहनाते हैं। दुर्व्य-सन तो तीनो जंवाइयों में में से किसी में भी नही है। यह सब भगवान् की ही कृपा समझनी चाहिए।

जमनालालजी आगरे से विवाह का निश्चय करके लौटे। वह जिस दिन आये उस दिन से सातवें दिन विवाह था। इतने थोड़े समय में विवाह करना आसान नही था। पर जमनालालजी ने सावित्री और राम को

व्यवस्था का काम सौंपा। मैं टाइफाइड से बीमार थी और मदालसा के घर थी। मैं तो सिर्फ फेरे के समय ही आई। विवाह की सारी तैयारी सावित्री और रामकृष्ण ने ही की। कपड़े-सामान से लगाकर खाने-पीने तक की व्यवस्था करनी थी। मिठाइयों के नाम खोज-खोजकर एक लम्बी फेहरिस्त बनाकर सावित्री जमनालालजी के पास पहुँची। उन्होंने कहा कि इसमें से जो अच्छी लगे, वही एक मिठाई चुन लो और बनवाओ। उसकी उमंग मन-ही-मन रह गई, लेकिन उसने उनके कहने के अनुसार एक ही मिठाई में सन्तोष माना।

ओम् की विदाई के समय जमनालालजी की भी आँखें गीली हो गई थी। कमला की शादी के समय उनपर क्या असर हुआ, यह देख नहीं पाई थी। मदालसा तो वरधा रहने वाली थी, इसलिए उसकी विदाई का तो सवाल ही नहीं था, पर ओम् के लिए उनके-जैसे धीर-गम्भीर व्यक्ति भी द्रवित हो गये। बेटी की विदाई सभी की भावना को कोमल बना देती है।

जब ओम् और राजनारायणजी नैनीताल थे, तब जमनालालजी वहाँ गए। उन्हें राजनारायणजी और ओम् का परस्पर प्रेम देखकर बहुत सन्तोष हुआ। लौटने पर जमनालालजी ने मुझसे कहा कि देखो, अब ओम आये तो खयाल रखना, उसपर गुस्सा न होना। राजनारायण उसे बहुत चाहता है, तुम्हारा कहना-सुनना उसे अच्छा नहीं लगेगा।

ओम् डेढ़-दो महीने से वरधा ही थी। राजनारायणजी उसे लेने वरधा आये। कुछ दिन रहकर दोनों बम्बई गये। वहाँ से वे सीधे अपने कार्यक्रम के अनुसार नैनीताल जाने वाले थे, पर न मालूम क्यों एकाएक उसका वहाँ मन ही न लगा। उसने वापस वरधा जाने की जिद की, मानो वरधा उसे बुला रहा हो। सामान खरीदना छोड़कर वर्धा पहुँच। राजनारायणजी साथ थे। वे दोनों जमनालालजी की मृत्यु के दिन सवेरे आठ बजे ही वर्धा पहुँचे।

जमनालालजी के जाने से आघात तो सबको लगा, पर कुटुम्बवालों पर स्वाभाविक तौर से अधिक ही लगा था। सब घरवालों के मन में यह भाव था कि हम उनके काम को करके उनकी आत्मा को सन्तोष दें। सावित्री जब 'करेंगे या मरेंगे' आन्दोलन में जेल जाने लगी तब राजनारायणजी ने भी ओम् को इजाजत दे दी।

: ३० :

आखिरी सन्तान

रामकृष्ण आखिरी संतान है। वह बचपन में बड़ा स्वस्थ और शान्त था। रोता भी कम था। बचपन में उसकी उंगली दरवाजे में दब गई थी और टुकड़ा कटकर गिर गया। उसे उठाकर वह दादीजी के पास गया और बोला, "देखो दादीजी, मेरे एक आंगली की दो आंगली होगी।" दादीजी ने उंगली के दो टुकड़े देखे तो वह रोने लगीं, वह देखकर वह भी रोने लगा। पहले तो उसे खयाल ही नहीं आया। बाद में उंगली जुड़ गई।

बड़ों के सामने वह सीधा और आज्ञाकारी था, पर बराबरीवालों से सदा हँसी-मजाक किया करता। उसका यह स्वभाव आज भी है।

पढ़ना-लिखना राम का बहुत देरी से शुरू हुआ। पहले तो ठीक सिलसिला नहीं जमा। बापूजी ने जबतक स्कूल-कालिजों के बहिष्कार पर जोर रखा था तबतक बच्चे स्कूल-कालेजों में गए ही नहीं। घर पर या आश्रम में जो पढाई होती वही होती। लेकिन जब नवभारत विद्यालय बापूजी की सलाह से वरधा में चलने लगा तब फिर राम वहां जाने लगा। पढ़ाई देरी से शुरू होने पर भी सोलह साल की उमर में वह मैट्रिक पास हो गया।

चौदह साल तक हममें से किसीने भी सिनेमा नहीं देखा था। मिठाई न तो घर पर ही बनती थी और न बाहर ही खाई जाती। कुंआरे लड़के-लड़कियों को शादी में भी नहीं जाने देती। एक बार मेरी बड़ी भाभी आई तो मोतीचूर के लड्डू लाई होंगी। उन्हे देखकर राम बोला—"मामीजी, इसे क्या कहते हैं?" वह बोलीं—"मोतीचूर के लड्डू।" बस, इतना सुनकर वह तो खेलने दौड़ गया। पर यह देखकर मेरी भाभी को रोना आ गया। वह बोली—"तुम्हारे इतने बड़े घर में बच्चे कैसे तरसते

हूं ! बाईजी, मैं तो अभी लड्डू बनवा देती, लेकिन आपके घर में तो ऐसी चीजें बनाने का हुक्म ही नहीं है ।"

मेरी अनुपस्थिति में ओम् ने लड्डू खाया और मेरी भाभी से कहा—"मामीजी, मां से कहना मत, पर मेरे लिए लड्डू जरूर भेजना ।"

मेरी भाभी ने इंदौर जाकर पारसल भेजा । पारसल को खोला और देखा कि उसमें लड्डू हैं । तब विचार हुआ कि वे कैसे आए ।

ओम् दौड़कर दादीजी से धीरे-से बोली—"दादीजी, ये तो मामीजी ने मेरे कहने से भेजे हैं ।" तब जाकर पता चला कि यह सब ओम् की करामात है । सादगी का यह सिलसिला १९३४ तक चला । बाद में तो कम हो गया ।

जब रामकृष्ण वरधा में पढ़ता था तब उसने और उसके साथियों ने 'धनचक्कर-क्लब' चला रखा था, जिसमें सब बच्चे खेलते-कूदते थे । साथ-साथ देहातों में प्रौढ़-शिक्षण और चरखे का भी काम करते । इस क्लब में कभी-कभी बड़े-बूढ़े भी खेलते थे ।

धनचक्कर-क्लब के लड़कों के साथ राम भाई का-सा व्यवहार करता; लेकिन मुझे उससे चिढ़ आती । लड़के कहते, धनवानों का धन और अपनी अक्ल लगाकर देश का काम करेंगे । मुझे यह छोटे मुंह बड़ी बात लगती । मैं उनसे तो क्या कहती, पर अपने बच्चों से कहा करती कि तुम इन धनचक्करवालों के साथ धनचक्कर बन जाओगे । मुझे धनचक्कर-क्लब के लड़कों पर इसलिए भी चिढ़ आती थी कि वे राम को शांति से बैठकर खाने-पीने भी नहीं देते थे । जब देखो तब साथ ।

व्यक्तिगत सत्याग्रह चला और जमनालालजी जेल जाने लगे तो राम ने उनसे कहा कि परीक्षा के बाद मेरा भी सत्याग्रह करने का इरादा है । समय थोड़ा था, ज्यादा बात तो हो नहीं सकी, पर वह इतना ही बोले कि बापूजी की सलाह से जो कुछ करना हो, करना । तीन-चार महीने बाद परीक्षा हो जाने पर राम बापू के पास पहुंचा । उस समय उसकी उमर सोलह साल की थी । बापूजी बोले—"मैं इस सत्याग्रह में अभी बच्चों को नहीं भेजना चाहता ।" जब वह आग्रह करने लगा तो बापूजी ने उसे तीन-चार दिन तक अपने पास रखकर उसकी जांच-पड़ताल की । उससे

कहा कि जबतक यह सत्याग्रह चलेगा तबतक मुझको बार-बार जाना पड़ेगा। तुम्हारी तैयारी रहनी चाहिए। वह बोला—"आखिर कितने दिन तक जेल जाते रहना पड़ेगा?" वह बोले—"कम-से-कम पांच वर्ष तो मान ही लेना चाहिए। मेरी पांच साल की तैयारी है।" कुटुम्ब के बहुत-से लोग और मैं जेल जाकर आई थी। इसलिए जेल का अनुभव था। मेरा मन राम को जेल भेजने के लिए राजी नहीं था, इसलिए मैंने बापूजी को इशारा किया कि इसे रोकना ठीक रहेगा। लेकिन वह अपने विचार पर पक्का रहा। बापूजी को इजाजत देनी पड़ी।

उसने सत्याग्रह किया तो पहली बार सौ रुपये जुरमाना हुआ। फिर दूसरी बार किया तो दो-सौ। तीसरी बार चार महीने की सजा हुई। सजा पूरी कर शनिवार को आया। सत्याग्रही को दस रोज में वापस जाने का आदेश था, लेकिन उसकी तो फिर से तुरन्त जाने की तैयारी थी। दूसरे दिन रविवार आ गया, इसलिए रुकना पड़ा। उसने सोमवार को फिर से सत्याग्रह किया और छः महीने की सजा हुई। जब सत्याग्रह स्थगित हुआ तब वह विनोबाजी के साथ छूटा।

जेल जाने से पहले वह मैट्रिक पास हो गया था। जेल से छूटने पर उसने पढ़ाई शुरू की। लिखा-पढ़ी के बाद कालेज में भरती हो सका। कालेज का सत्र तो बहुत पहले शुरू हो गया था, परीक्षा के लिए बहुत थोड़े दिन बाकी रह गए थे। इसलिए बड़ी मुश्किल से इजाजत मिली। परीक्षा दी और पास हो गया। इसी अवधि में उसके पिताजी की मृत्यु हो गई। ऐसे समय में चित्त को स्वस्थ रखकर पढाई करना आसान न था। पर उसकी तो सदा से यही आदत रही है कि जो काम सौंप दिया जाय उसीमें वह लग जाता है। जमनालालजी की मृत्यु के दूसरे दिन भी उसे मैंने कालेज भेजा। यह बात दूसरी थी कि उनकी मृत्यु के कारण कालेज बंद रहने से उसे लौट आना पड़ा।

उसके काकाजी की मृत्यु के बाद कुटुम्बवालों ने अपने बाल दिए। गंगाबिशनजी, राधाकृष्ण आदि कुटुम्बवालों ने मुंडन करवाया, तब राम को भी कहा गया। वह बोला—"बाल देने में क्या पड़ा है! पिताजी के लिए हम जितना करें, थोड़ा ही है।" उसने सिर नहीं मुडवाया। उधर कमल-

नयन गोला गोकर्णनाथ में था। उसने भी मुंडन नहीं करवाया। कमलनयन जब वरधा आया तब उसने मुझसे कहा कि बाल देने से तुझे अच्छा लगता हो तो दे दूं। पर मैंने भी इसमें कोई महत्व नहीं देखा। देखा जाय तो दोनों भाइयों के विचार में कितना साम्य था। राम वरधा था और कमल गोला, पर दोनों के विचार एक-से थे कि इतनी तुच्छ वस्तु हम पिताजी को क्या अर्पण करें! यों बच्चों के लिए यह पहली ही मौत थी और इस तरह की पहले कोई चर्चा भी हुई नहीं थी। फिर कमलनयन ने यह भी कहा कि पिताजी के दुःख को मनहूस चेहरा बनाकर क्या प्रकट करना! जो दुःख हुआ, उसका दिखावा थोड़े करना है। राम भी तीसरे दिन घनचक्कर-क्लब में खेलने चला गया। बच्चों ने इस दुःख को बड़े धीरज से बरदाश्त किया और अपने पिता के लिए जो श्रद्धा थी वह उन्होंने उनकी इच्छा की पूर्ति में ही समझी। सब घरवाले गम्भीर थे, लेकिन रोना-धोना न देखकर मारवाड़ से आये हुए लोग अचरज करते थे।

फिर से जुलाई में गर्मियों की छुट्टी के बाद कालेज शुरू हुआ। लेकिन अगस्त में जब 'करो या मरो' आन्दोलन शुरू हुआ तब राम फिर जेल गया। १९४४ में छूटा। जेल में वह अपने साथियों से हिलमिल गया। जेल से छूटकर आनेवाले उसके विषय में प्रेम और आत्मीयता प्रकट करते। अपने साथियों के सुख-दुःख का वह खयाल रखता था। उनको किसी चीज-वस्त की जरूरत होती तो अपने पास से दे देता या मंगवा देता।

उसने जेल में खेल-कूद, पढने-लिखने और कातने में अपना समय मजे से काटा। किसी तरह की कोई शिकायत नहीं की। हां, उसे यह डर अवश्य था कि बाहर निकलने पर भाई उसे व्यापार में लगा देगा। उसने अपने पत्र में लिखा भी था। तब मैंने उसे लिखा कि तुमको चिन्ता करने की जरूरत नहीं। जैसा तुम्हारा मन होगा वैसा बापूजी की सलाह से किया जायगा; और हुआ भी वैसा ही। बापूजी की सलाह से ही वह व्यापार में लगा। व्यापार में लगने तक देश का ही काम करता रहा। प्रथम बार जेल गया था तब से अंतिम बार जेल से छूटने तक सवा चार साल हुए थे। उसने बापूजी से कहा—"आपको दिये पांच वर्ष में से नौ महीने बाकी हैं। आप नौ महीने चाहे जो काम लें।" बंगाल, आसाम

ग्रौर मदरास के दौरे में राम को बापूजी ग्रपने साथ ले गए। उसपर हरिजनफंड ग्रौर बापू के दस्तखतों के पैसे वसूल करने के ग्रतिरिक्त बापू के सामान को सम्हालने की जिम्मेदारी थी। इसलिए मजाक में बापू उसे 'हमाल' (मजदूर) कहते थे। साथी भी उसे 'बापू का हमाल' कहने लगे। उसके बाद वह नौजवानों ग्रौर विद्यार्थियों में काम करने लगा। उसने विद्यार्थी कांग्रेस के काम में काफी हिस्सा लिया। एक बार वह मध्यप्रदेश की विद्यार्थी कांग्रेस का ग्रध्यक्ष भी बना। ग्र० भा० विद्यार्थी कांग्रेस का वह खजांची भी था। विद्यार्थी कांग्रेस की ग्रोर से प्रेग में होनेवाली ग्रन्तराष्ट्रीय विद्यार्थी कान्फ्रेंस में भी वह गया था। युवक कांग्रेस शुरू करने में उसका हाथ रहा ग्रौर उसका भी काम किया।

उसके विवाह की चर्चा जमनालालजी के सामने ही चल रही थी, लेकिन उस समय तो उसकी उम्र उन्नीस वर्ष की ही थी। इसलिए वह इतनी जल्दी सम्बंध करना पसंद नहीं करते थे। जब जेल से छूटा तब चर्चा चलने लगी। यों तो घर में वातावरण ऐसा ही था कि जाति के बाहर की ग्रच्छी लड़की मिल जाय तो प्रथम बार दूसरी जाति में विवाह हो। बातें भी चलने लगीं। पर मेरा मन तो जाति की कन्या भावे तो ग्रच्छा, ऐसा था। बातें हुई, लेकिन ग्रन्त में उसका सम्बन्ध सावित्री की बहन विमला के साथ ही निश्चित हुग्रा। इस सम्बन्ध के मामले में सावित्री तो बिलकुल तटस्थ रही। दोनों भाइयों ने ही निर्णय किया ग्रौर विवाह भी जैसे उनके पिताजी की इच्छा रही थी वैसा ही हुग्रा।

यों विमला को जमनालालजी का ग्राशीर्वाद तो मिला हुग्रा ही था। सावित्री का सम्बन्ध होने पर वह उसे उसके साथ वरधा ले ग्राए थे। उस समय उसकी उमर कोई दस साल की रही होगी, पर उसकी बुद्धिमानी पर वह बहुत खुश थे। कहते, बहुत होशियार लड़की है। वह उस समय उनके साथ ताश खेलती थी, बातें करती थी। उसीसे उन्होंने परीक्षा करके कहा होगा। उनकी डायरी में भी इसका उल्लेख मिलता है। उसके इस घर में ग्राने से दोनों भाइयों का प्रेम बना है, जो ग्राजकल के समय में कठिन है। मैं तो यही मानती हूँ कि जमनालालजी तथा बड़ों के ग्राशीर्वाद तथा भगवान् की कृपा से घर में सभी के सम्बन्ध ग्रच्छे हुए ग्रौर सबको

ऐसे ही साथी मिले, जो एक-दूसरे के पूरक हैं।

राम में आज भी अपने बड़ों के प्रति श्रद्धा है और बराबर बड़ों के अनुशासन में चलता है। मेहनत, काम की लगन एवं व्यवस्थतता के कारण वह व्यापार का बोझ अपने ऊपर होते हुए भी जमनालालजी के पत्रों का संकलन और डायरियों के व्यवस्थित करने में अपना समय देता है। 'पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद' में उसने बहुत मेहनत की। बच्चों को सदा अपने पिताजी की कीर्ति और कामों का खयाल रहता है। यही मेरे लिए संतोष की बात है।

: ३१ :

मेरी परेशानी

जमनालालजी के कान में दर्द रहा करता था। बहुत इलाज कराया, पर कोई लाभ न हुआ। उसका मेरे मन पर भी बोझ रहता था। मेरी झुंझलाहट इसलिए भी थी कि वह अस्वस्थ होते हुए भी निरन्तर कार्य में लगे रहते थे। मेरे कहने का कोई असर नहीं होता था। यदि वह घर पर रहते तो आने-जानेवालों का तांता लगा रहता। उन लोगों की आव-भगत, व्यवस्था तथा कार्यों के सम्बन्ध में बातें होती रहतीं। उनको अतिथि-सत्कार और सार्वजनिक कार्य में ही आनन्द और सुख मालूम देता। बाहर जाते तब भी कार्यों तथा कार्यकर्ताओं के साथ बातों में लगे रहते। मोटर में, रेल में भी काम की बातें चलती रहतीं। मैं चाहती थी कि थोड़ा आराम करें, पर उनकी बातें कभी रुकने लगीं। अन्त में वह इतने थक जाते कि मुझे भी उनसे बात करने में दया आने लगती। गुस्सा तो मन में रहता ही, लेकिन क्या करती? अति प्रेम की इन दो अवस्थाओं में मेरा शरीर अस्वस्थ और कमजोर मन चिड़चिड़ा रहने लगा। बात-बात में बोलने के स्थान पर रोना आ जाता था।

मैं चाहती थी कि उन्हें थोड़ा आराम मिले। मुझे उनकी सेवा करने का थोड़ा मौका मिले। पर ऐसा कुछ बनता ही नहीं था। इसका मुख्य कारण था सार्वजनिक काम, मेहमानों का आना-जाना, सेक्रेटरियों और नौकरों से माथा-पच्ची। मैं सोचने लगी कि ये ही बातें हैं जिनके कारण उनको आराम नहीं मिलता और मैं सेवा करने से वंचित हूँ। आदमी मोह के कारण क्या-क्या नहीं सोच लेता। सो मैं उनको परेशान और व्यस्त रखनेवाली इन सब बातों से चिढ़ने लगी। वह कोई सार्वजनिक काम की बातें करते या दौरे में साथ चलने को कहते तो मुझे गुस्सा आ जाता।

दिनों-दिन हम दोनों के बीच खींचातानी बढ़ने लगी। वह स्वयं समाधान के लिए भरसक प्रयत्न करते थे और जानते भी थे कि दोनों में यह खींचा-तानी क्यों हो रही है, लेकिन उनका जीवन तो पूरी तरह से सार्वजनिक हो ही गया था। वह उससे चाहते तो भी छूट कैसे सकते थे? वह तो उसमें सिर से पैर तक डूब चुके थे। यह तो मेरा ही काम था कि मैं उनके स्वभाव और रुचि को समझकर उनका साथ देती और उनके आनन्द में अपना आनन्द मानती। इस तरह अगर होता तो उनके मन पर मेरे असमाधान का भार नहीं रहता। मुझे इसमें आपत्ति थोड़े ही थी कि वह सार्वजनिक काम करें। यों तो मुझे भी सार्वजनिक काम प्रिय ही थे फिर भी मैं चाहती थी कि वह इसमें इतने लीन न हो जायं कि शरीर की भी सुधि न रहे।

उन्हें चना, मूंगफली, कच्ची मकई आदि अच्छी लगती थी। श्री लक्ष्मीनारायण-मंदिर में प्रतिवर्ष उत्सव के अन्तिम दिन तले हुए काबुली चने प्रसाद के रूप में बांटे जाते थे। प्रसाद लेने के लिए भीड़ काफी होती थी। खाने में स्वादिष्ट लगते थे। एक वर्ष के उत्सव के समय जमनालालजी बाहर गए हुए थे। मैंने उनके लिए थोड़े चने बचाकर रख लिये थे। मैं चाहती थी कि वह अकेले में मिलें तो उनको चने खिलाऊं। अकेले में कोई चीज खाना उनके लिए जहर-सा था। सबको खिलाने में तथा सबके साथ खाने में ही उनको सुख मिलता था। मैं बार-बार टोकनी में वे चने छिपा कर ले जाती, पर वह कभी अकेले में मिलते ही न थे। चने लेकर सामने जाती तो वह कोई-न-कोई काम ही बता देते। किसीको सेवाग्राम दिखाना है, किसी को चाय पिलानी है, किसीको बाथ-रूम दिखाना है तो किसीके लिए कुछ और प्रबन्ध करना है। मैं रूंआसी हो जाती पर करती क्या? एक रोज वह भोजन करके उठे। कुछ लोग सुपारी खाने में लगे थे और कुछ आगे निकल गए थे। उनको बरामदे में से जाते देख-कर मैंने उन्हें चने दिखाए। वह यह तो जानते थे कि अगर वह कुछ खा लेंगे तो मुझको संतोष होगा। लेकिन रुकें भी कैसे? सामने भी कुछ लोग थे और पीछे भी कुछ लोग थे। उन्होंने चने लिये और फंकी मार ली। अब उनकी बड़ी मुश्किल हुई। बोलना और चबाना एक साथ कैसे

हो सकता था ? वह सारे चने निगल गए। इससे उन्हें थोड़ा कष्ट भी हुआ। उसे देखकर मुझे और भी दुःख हुआ।

इस तरह मेरी अशांति बढ़ती गई। छोटी-मोटी बातों को लेकर असंतोष में भी वृद्धि होती गई और मैं चिड़चिड़ी बनती गई। मेरे स्वभाव को चिड़चिड़ा बनाने में नौकरों ने भी मदद दी। जमनालालजी को खुश रखने के लिए तो वे खूब दौड़-धूप करते, पर मेरी बात की अवहेलना की जाती। जमनालालजी हर तरह से नौकरों को खुश रखते थे और उनके साथ परिवार जैसा व्यवहार करते थे। कहा करते थे कि अगर नौकरों को रखना हो तो अच्छी तरह रखो, नहीं तो बिना नौकरों के काम चलाओ। नौकरों के प्रति किसी भी प्रकार के अन्याय को वह बरदाश्त नहीं कर सकते थे। उनके प्रति वह बहुत उदार रहते थे। नौकरों के बिना चलाना सम्भव नहीं था और नौकरों का मेरे कहने में चलना भी असम्भव ही था। इस तरह नौकरों के कारण भी मन को क्लेश होता रहता।

जमनालालजी के सेक्रेटरियों का ठाट तो और भी बढ़ा-चढ़ा रहता था। वह हमेशा नए-नए युवकों को सेक्रेटरी बनाते, व्यवहार की बातें सिखाते, उनकी जरूरतों का खयाल रखते। लेकिन जमनालालजी के कारोबार को देखकर उन युवकों में भी व्यापार करने और धन कमाने की इच्छा पैदा हो जाती। उनकी इच्छा को समझकर दो-तीन वर्ष बाद जमनालालजी अपने सेक्रेटरी को किसी अच्छे स्थान पर लगा देते। कालेज से निकले हुए युवकों की बुद्धि तो तेज होती थी, पर व्यावहारिक अनुभव उनमें नहीं होता था। इसलिए जमनालालजी का दिमाग उनको व्यावहारिकता तथा काम-काज सिखाने में खोलो होता था। जमनालालजी के पास रहकर सीखे हुए लोग बड़े स्थानों पर भी रख लिये जाते थे। जमनालालजी के मित्रों की भी मांग रहती थी कि काम सीखे हुए होशियार आदमी उनको मिलें। "लाओ जी, तुम ऐसा नर, पीर-बबर्ची-भिश्ती-खर", ऐसी मांग उनके पास सदा बनी रहती थी। तब वे अपने सेक्रेटरियों को दे दिया करते और अपने लिए नया रंगरूट खोज लेते। हर दूसरे-तीसरे वर्ष इस तरह उनके सेक्रेटरी बदल जाते थे। नए आदमी को काम समझने में थोड़ी देर तो लगती ही थी।

ये किसी भी आदमी को रखते समय उसके लिए "पीर-ववर्ची-भिश्ती-खर" वाली कसौटी तैयार रखते थे। वे यह कह देते थे कि उन्हें किसी भी समय कोई भी काम दिया जा सकता है। शुरू में उत्साह और चाह में हर आदमी उनकी बात मान लेता था और प्रेम भी यह ऐसा करते थे कि सेक्रेटरी भी उनका काम मन लगाकर करते थे।

इस प्रकार कई सेक्रेटरी आये और गये। इनमें कई तो आज बड़ी अच्छी-अच्छी जगहों पर हैं और अच्छा काम कर रहे हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी आये, जिनसे बाद में जमनालालजी को तथा हम सबको बड़ी तकलीफ हुई। उन्होंने अपनेको मिले मौके का दुरुपयोग किया। इन सेक्रेटरियों के बीच में मुझे भी रहना पड़ता था। अपने स्वभाव के अनुसार कई सेक्रेटरियों से मेरी नहीं बनी, क्योंकि जमनालालजी तो उनको बहुत स्वतन्त्रता देते थे, पर मेरे कारण उनपर घर की बातों और व्यवहारों में कुछ कसावट आती थी। मुझे इन रगरूट सेक्रेटरियों से व्यवहार करने में बड़ी कठिनाई भी होती थी। जमनालालजी तो हरेक को बढ़ावा देकर उसके गुणों को खोजकर उससे काम ले लेते थे, पर मुझे तो उसमें बुराई और कमियां ही दिखाई देती थी और उसका कोई काम पसन्द ही नहीं आता था। हर काम में नुक्स ही निकाला करती थी। आखिर-आखिर में तो जमनालालजी ने यह तय कर लिया था कि जो भी नया आदमी आता, उसे वे मेरे पास भेज देते और अगर वह मुझे जंचता तो ठीक समझा जाता। मेरी कसौटी और भी कड़ी होती। कोई कहता कि वह बी. ए. पास है तो मैं उसे सेक्रेटरीपन के लिए नापास कर देती। अगर कुंवारा होता तो वह भी नापास हो जाता।

जमनालालजी की सेक्रेटरियों को हिदायत रहती थी कि मेहमानों का पूरा-पूरा खयाल रखा जाय। उनको किसी प्रकार की असुविधा न हो। एक बार किसी ने कहा कि मेहमान-घर में तो दूध के गिलास भर-भर कर पिये जाते हैं। मालिश भी होती रहती है। फलों की भी मौज है। जमनालालजी ने कहा, "भाई, पेट में ही तो खाते हैं। किसी की तबियत सुधारना खुशी की ही बात है।"

दामोदरजी जमनालालजी के अंतिम सेक्रेटरी थे। मुझसे मीरा और

दामोदरजी का परिचय कराते हुए जमनालालजी ने कहा था कि यह दम्पति बहुत सेवा-भावी और भावुक है। अपने पास रखने लायक हैं। तुम्हारी कसौटी के मुताबिक ही ये अपने पास निभने जैसे हैं।

और दामोदरजी ने तो सचमुच ही जमनालालजी को बहुत प्रभावित किया और यहांतक अपना असर जमा लिया कि मुझे तो वह अपनी सौत-सी लगने लगे। वे मेहमानों के साथ खूब प्रेम से व्यवहार करते। सबकी जरूरतों को पूरी करने की धुन में लगे रहते और समान भाव से बरतने के जोश में खर्च का खयाल न रखते। मेहमानों को घर-सा ही लगना चाहिए, उनको किसी प्रकार की कमी न रहे, इसका भी पूरा खयाल रखते थे। मेरी निगाह में यह फिजूलखर्ची थी, पर मन मारकर रह जाती थी, क्योंकि वह भी अपनी आदत से लाचार थे।

सेक्रेटरियों और नौकरों से मुझे जो परेशानी होती उसे मैं विनोद में लेने और सहन करने का प्रयत्न करती। कहांतक सफल होती, यह तो भगवान ही जाने, पर मैं गुनगुनाती रहती :

राज सिकरेटरियों का भारी, राज सरवंटों का भारी।
राज सरवंटों का भारी।
कहने को तो राज हमारा, बात चले भारी॥

सिकरेटरी इक जाय दूसरा तुरत यहां आवे,
दूसरा तुरत यहां आवे,
राज सरवंटों का भारी।
नींद लगे पर दूध सुबह धारोष्ण पा जावे॥
मंत्री-पद यह बना द्रौपदी चीर बड़ा भारी।
द्रौपदी चीर बड़ा भारी।
जादू टोना करो सिलसिला रहे सदा जारी॥
राज सरवंटों का भारी।
राज सिकरेटरियों का भारी।

: ३२ :

पंगत की रंगत

बापूजी के वर्धा आ जाने के बाद से वर्धा में नेताओं और कार्यकर्त्ताओं का आना-जाना बढ़ता गया। बबई-कांग्रेस में बापूजी कांग्रेस से अलग हो गये और वर्धा में रह कर 'ग्राम उद्योग-संघ' की स्थापना की। कन्याश्रम को छोड़कर बापू मगनवाड़ी में रहने लगे। बाद में सेवाग्राम गये। पर कांग्रेस कार्य-समिति (वर्किंग कमेटी) की मीटिंग अक्सर बजाजवाड़ी, वर्धा, में ही होती। रचनात्मक कामों की अन्य सभाएँ तथा सम्मेलन आदि भी वर्धा में होते ही रहते। बापूजी और जमनालालजी से मिलने-जुलने वाले भी आते रहते। देशी-विदेशी यात्रियों, पत्रकारों, नेताओं, कार्यकर्त्ताओं के आवागमन से बजाजवाड़ी गुलजार रहने लगी। लोगों का जमघट लगा ही रहता। इस कारण मेहमान-घर बड़ा करना पड़ा। मकान और बनाने पड़े। भोजनालय की व्यवस्था बढ़ानी पड़ी। देश के बड़े-से-बड़े नेता से लगाकर राजे-महाराजे और साधारण कार्यकर्त्ता, सब वर्धा आते और बजाजवाड़ी में ठहरते। कभी कोई जान-पहचान वाला आता तो कभी बिना जान-पहचान वाला। कोई किसी काम से आता तो कोई योंही यात्रा के विचार से। किसी असमंजस में पड़े व्यक्ति को तांगेवाले ही बजाजवाड़ी ले आते। खादी पहनने वालों या कोई भी सार्वजनिक काम करने वालों के लिए बजाजवाड़ी एक धर्मशाला जैसी बन गई थी। लेकिन आनेवाला कोई भी हो, जमनालालजी सबकी सुख-सुविधा का बराबर खयाल रखते। उन्होंने अपने बाल-बच्चों, सेक्रेटरियों तथा नौकर-चाकरों को तो सबकी पूरी व्यवस्था रखने की हिदायत दे ही रखी थी, पर स्वयं भी जबतक सारी व्यवस्था देख न लेते थे, उन्हें संतोष न होता था। वे हर व्यक्ति की रुचि

का भोजन बनवाते तथा उसके आराम व सुविधाओं का पूरा खयाल रखते थे।

सरोजिनी नायडू को तली हुई हरी मिर्चें पसन्द थी। राजाजी के लिए रसम, मौलाना आजाद के लिए मोटी रोटी, जवाहरलालजी के लिए आलू, सूखी रोटी और मक्खन, कृपालानीजी के लिए गरम सूप और उसमें मक्खन या क्रीम मिल जाय तो उत्तम, खानसाहब के लिए खिचड़ी में खौलता हुआ घी, डा० पट्टाभि सीतारामैया को भोजन के अंत में दही-भात, जयरामदास दौलतराम को उबली हुई सब्जी, शंकरराव देव को भात में छाछ, गोविन्दवल्लभ पंतजी को दाल में घी और इनके अलावा जुदे-जुदे नियम और व्रत पाने लोगों की रुचि और आवश्यकता के अनुसार उसका पूरा ध्यान जमनालालजी रखते और धीरे-धीरे उन्होंने ऐसी व्यवस्था कर दी कि वे अगर वर्धा में न भी हों, तो भी सारी बातों का पूरा ध्यान रखा जाता।

बंगले पर भोजन की पंगत भी अजीब होती थी। बड़े-से-बड़े नेता और साधारण-से-साधारण कार्यकर्त्ता एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन करते। उनमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखा जाता था। घर के नौकर, सेक्रेटरी, लड़के-लड़की, दामाद आदि भोजन परोसते थे।

कांग्रेस कार्य-समिति की दिमाग खपानेवाली गम्भीर चर्चाओं के बाद पंगत का वातावरण एकदम हँसी, व्यंग, चुटकी और कहकहों से गूंज उठता था। घंटी बजने पर पंगत बैठती थी, पर कभी मीटिंग जल्दी खत्म हो जाती या विनोद में सरदार पटेल, या कृपालानीजी या जवाहर-लालजी पहले ही पंगत में पहुँच जाते और सामने रखी थाली को चम्मचों से बजाने लगते। पंगत में बैठते ही कभी महादेवभाई धीरे-से कह उठते, "अरे भाई, देरी हो तो पहले पापड़ ही परोस दो।" तब सरदार पटेल दूसरे कोने से गम्भीर स्वर में बोलते, "अरे महादेव, यह मारवाड़ी का ढावा है। पापड़ संभलकर मांगना। पापड़ आया कि भोजन खलास !"

इसी तरह एक बार घनश्यामदासजी बिड़ला ने भोजन के वक्त पूछा, "आज का 'मीनू' क्या है ?" पास में बैठे हरिभाऊजी बोले, "आज तो रावड़ी बनी दीखती है।"

घनश्यामदासजी चखते-चखते बोले, "अरे, हमने तो कांग्रेस के सजांचो के यहाँ दूध की रबड़ी की उम्मीद रखी थी, पर यह तो निकली छाछ की राबड़ी ! क्यों हरिभाऊजी, इस तरह के खाने से ही आपका वजन नहीं बढ़ पाता दीखता है !"

सुभाषबाबू जब कांग्रेस से अलग हो गये तो वर्धा में दूसरी जगह ठहरने लगे। लेकिन उनका नौकर भोजन करने बजाजवाड़ी ही आया करता था। उसको भात में मक्खन का होना जरूरी था। सरदार पटेल उसे देखकर कहते, "इसका मालिक भले कांग्रेस छोड़ दे, पर यह नहीं छोड़ेगा। इसे भात में मक्खन जो चाहिए।"

इसी तरह का हँसी-मजाक का वातावरण भोजन के वक्त बना रहता।

इसी पंगत में लड़कों-बच्चों के नामकरण, किसी की सगाई, किसी लड़के के लिए लड़की की खोज, किसी लड़की के लिए लड़के की तलाश, आदि का काम भी होता। मदालसा के बड़े लड़के 'भरत' का नाम इसी तरह की एक पंगत में रखा गया था।

जमनालालजी की डायरी में शादी के उम्मीदवार लड़के-लड़कियों के नाम लिखे रहते थे। एक रोज सरदार पटेल भोजन के लिए जरा पहले आ गये। जमनालालजी के कमरे में उनकी डायरी रखी थी। सरदार ने उलट-पलट कर देखी और शादी के उम्मीदवारों की सूची में चुपके से अपना नाम लिख दिया। बाद में जब जमनालालजी की निगाह उसपर पड़ी तो एक दिन पंगत में गंभीरता से बोले, "आज एक उम्मीदवार के लिए आप सबको एक लड़की खोजनी है।" जब जमनालालजी ने सरदार का नाम बताया तो बड़ा कहकहा लगा। इतने में एक नेता बोले, "पहले इनकी लड़की के लिए लड़का खोजो, बाद में इनके लिए लड़की खोजना।" जमनालालजी ने कहा, "लड़का मिल तो जायगा। आसान काम है। पर लड़का दूसरे ही दिन रेल की पटरी पर जाकर सो जायगा।" यह सुन कर फिर हँसी के फव्वारे छूट पड़े।

पंगत में परोसने के नियम भी बने हुए थे। परोसनेवालों को यह हिदायत थी कि भोजन करनेवाले को मांगना न पड़े और परोसनेवाले

को भोजन करनेवालों से पूछना न पड़े और परोसना चलता रहे। इतने पर अगर थाली में जूठन किसी ने छोडी तो जमनालालजी फौरन कहते, "आज फलां थाली में भोजन करनेवाले और उनको परोसने वाले पर एक-एक रुपया जुरमाना किया गया।" कोई-कोई नेता या बालक थाली में जूठी चीजों पर उल्टी कटोरी ढांक देता। जमनालालजी की निगाह वह भांप लेती और कटोरी उलटने को कहा जाता। जूठन निकलती तो डबल जुरमाना घोषित हो जाता। जुरमाना देना-दिलाना तो क्या था, इससे एक हँसी और विनोद का वातावरण बनता और दिन भर की दिमागी थकावट को दूर करने के साथ-साथ लोगों की जूठन छोड़ने की आदत मिटे, यह भी उनका प्रयत्न रहता था।

शुरू-शुरू में जमनालालजी को होड़ लगाकर भोजन कराने का भी बड़ा शौक था। बगीचे में संतरों के पेड़ों के नीचे बैठकर शर्त लगाकर सैकड़ों संतरे इस प्रकार खिलाया करते थे। इसी प्रकार आम के दिनों में आम भी खिलाते थे। वर्धा में मौसम में हुड्डे (जवारी के भुट्टे) भूनकर खाये जाते थे। मौसम में कई बार इसकी गोठ होती। इनमें भी होड़ रहती। इसी तरह 'वाणी' (कच्ची जवारी) का हलुवा, वाणी के ही दही-बड़े, बैंगन का भुरता, कच्ची मूली, अमरूद व तिल्ली की चटनी रहती थी। यह सब जवारी के भुट्टों की बनी चम्मचों से खाया जाता था। इस प्रकार पंगत की रंगत जमी रहती।

भोजन के बाद बीच के कमरे में बैठक जमती। बड़े-बड़े लोग बच्चों के खेल खेलते। जवाहरलालजी घोड़ा बनते। सरोजिनी नायडू सवार बनती, लेकिन अपनी भारी-भरकम देह को सम्हाल नहीं पाती थीं। दो-दो आदमी उनको पकड़ कर बैठाते, लेकिन हँसी के मारे वह दुगुनी हो जाती थी। बैरिस्टर आसफअली सरकस जैसी कलाबाजी दिखाते। राजाजी माचिस की डिब्बी लेकर बच्चों के खेल दिखाते।

राजेन्द्रबाबू को दमे की शिकायत रहती थी। वे इन खेलों में शामिल न हो पाते थे। सो जमनालालजी उनके कमरे में जाकर शतरंज की बाजी लगाकर बैठ जाते।

पर देखते-देखते सब दृश्य और रंगत आज सपने की बात हो गई।

: ३३ :

गो-सेवा

व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेनेवाले का जेल से छूटने पर पुनः जेल जाना आवश्यक था। लेकिन बीमार आदमी सत्याग्रह में भाग नहीं ले सकता था। इस सत्याग्रह के प्रथम सत्याग्रही विनोवाजी चुने गए थे। इसके बाद तो एक-एक करके अनेक लोग जेल जाने लगे।

जमनालालजी का स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण उनको एक महीना पूर्व ही जेलवालों ने छोड़ दिया। बापूजी ने आराम करने को कहा, लेकिन उन्होंने कहा कि मैं बिना काम किये कैसे रह सकता हूँ? मुझे तो किसी-न-किसी काम में लग ही जाना चाहिए। बापूजी ने कहा कि कम-से-कम जेल की अन्तिम अवधि तक तो यह मानकर आराम करो कि अभी जेल में ही हो, मुद्दत पूरी होने के बाद काम के बारे में सोचेंगे। इसके बाद बापू ने उन्हें राजकुमारी अमृतकौर के यहां शिमला भेजा। उनकी बड़ी भारी कोठी है। उसमें उनके परिवार के पांच व्यक्ति रहते थे। एक कुत्ता भी था और नौकर थे ३५! कुत्ते का वहां जैसा लालन-पालन होता था वैसा तो किसी बच्चे का भी होना कठिन है। जमनालालजी का राजकुमारीजी बहुत खयाल रखती। उनको आराम मिले, इसलिए उन्होंने जरूरत से ज्यादा व्यवस्था की थी, लेकिन जमनालालजी को सकोच होता था कि राजकुमारीजी पर मेरा बोझ पड़ रहा है। वे तो उन्हें हर तरह का आराम दिलाने का प्रयत्न करती और बहुत खयाल रखती थीं, परन्तु जमनालालजी का मन वहां न लगता था। बड़ी मुश्किल से किसी तरह पंद्रह रोज निकाले। लेकिन जेल की अवधि समाप्त होने में तो अभी पंद्रह दिन और बाकी थे।

जमनालालजी ने वहीं से बापू पर अपनी इच्छा प्रकट की, मुझे

ऐसी आध्यात्मिक मां मिलनी चाहिए जो मुझे अपनी गोद में सुला सके। बात बड़ी विचित्र थी। और तो सबकुछ मिल सकता है, परन्तु मां कहां मिल सकती है ? बापू ने कहा, "पहाड़ जैसे लड़के को गोद में सुलानेवाली मां कहां मिलेगी ?" फिर भी बापू ने उनको लिखा कि शिमला से लौटते समय देहरादून में कमला नेहरू की गुरु-मां आनन्दमयी से मिलते हुए आना। जमनालालजी लौटते हुए वहां गये। गये तो थे केवल दो घंटे के लिए, पर रह गए दो दिन। वहां उनका मन लग गया। वहां के वातावरण से वह बहुत प्रभावित हुए। माता आनन्दमयी के पास उन्हें शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव हुआ। उनकी चर्चा अत्यन्त सात्विक, प्रसन्न और तेजस्वी थी। वहां के धार्मिक और भक्तिपूर्ण वातावरण में जमनालालजी ने अपनी वृत्ति के अनुसार कर्मयोग का कार्य शुरू करवा दिया। माता आनन्दमयी से उन्होंने चर्चा की कि धार्मिक कार्यों के साथ गांधीजी के विधायक काम चलें तो बहुत अच्छा। माताजी ने इसे स्वीकार कर लिया। अब क्या था। वहां अब हिन्दी की कक्षाएं, खादी का काम, चरखा आदि शुरू करवा दिये गए।

माता आनन्दमयी के पास हरएक भक्त एकांत समय में आत्म-निवेदन करता था। एक दिन जमनालालजी ने भी समय मांगा। उन्होंने कहा, "मां, क्या मैं आपकी गोद में सो सकता हूं ?" माता आनन्दमयी ने कहा, "मां की गोद में सोने में क्या हर्ज है ?" बस जमनालालजी आंखें मूंदकर माताजी की गोद में ऐसे सो गए, मानो कोई प्रेत पड़ा हो। थोड़ी देर बाद आंखें खोलकर उन्होंने कहा, "अगर इस समय मेरे प्राण भी छूट जायं तो कोई बात नहीं। मेरा अब किसी भी बात में मन नहीं रहा।" उनकी आध्यात्मिक मां की भूख आनन्दमयी की गोद में सोने से पूरी हो गई। जमनालालजी ने माता से तीन बातों की मांग की :

१. मेरी इच्छा है कि आश्रम के निकट जमीन लेकर मकान बनवाऊं, ताकि कोई कार्यकर्ता आराम तथा मानसिक शान्ति प्राप्त करना चाहे तो उसे भेजा जा सके।

२. मुझे 'सेठजी' के नाम से सम्बोधित न किया जाय, कोई छोटा-सा नाम हो।

[illegible] करूँगा जब आप बताओगी कि मेरी मृत्यु [illegible]।

[illegible] की स्वीकृति आसान थी, दूसरी बात की मांग में माताजी [illegible] सुन लिया। लेकिन तीसरी मांग बड़ी कठिन थी। माताजी [illegible] "मृत्यु का समय तो किसी को बताया नहीं जाता। हां, मनुष्य को यह समझना चाहिए कि हर क्षण उसके सिर पर उसकी मौत खड़ी है।" इससे जमनालालजी को समाधान नहीं हुआ। बोले, "यह तो ठीक है, पर समय बताओ।" आखिर माताजी ने कहा, "छह महीने की तैयारी से काम करो।" इस वचन पर जमनालालजी को दृढ़ श्रद्धा हो गई, ऐसा लगता है। उनकी डायरियों में मिलता है कि छह महीने तक वर्धा छोड़कर नहीं जाना, रेल या मोटर में नहीं बैठना। यह निर्णय उन्होंने १५ अगस्त १९४१ से १५ फरवरी १९४२ तक के लिए किया था।

इन दिनों उनका आत्म-मन्थन बड़ी तेजी से चल रहा था। वह व्यापारिक तथा अन्य कार्यों से निवृत्त हो गए और अपनी व्यापारी बुद्धि के अनुसार ऐसा हिसाब बैठाया कि यदि इन छह महीनों में जाना पड़ा तो उसकी तैयारी रहे। ऐसी साधना करें कि अधिक-से-अधिक समय पारमार्थिक कामों और चित्त-शुद्धि में लगे और यदि आगे रहना पड़े तो आदर्श गुज़र जायं। इसलिए घर-बार से निवृत्ति लेकर जीवन को ऐसे [illegible]

कि उन्हें गो-सेवा के सिवा दूसरे काम की बात ही नहीं सूझती थी। यों गो-सेवा-संघ की स्थापना तो अक्तूबर, १९४१ में हुई थी और उसके वह अध्यक्ष बने थे, पर उसकी तैयारी तो उन्होंने इसके पहले ही कर ली थी।

वे चाहते थे कि अपना बचा हुआ जीवन प्राचीन ऋषियों की तरह कुटियों में बितावें। इसलिए एक कुटिया गोपुरी के पास बनाकर रहना चाहते थे, जहां रहकर वे गो-सेवा और आत्मचिंतन में समय बितावें। उन्होंने कुटिया बनाना शुरू करा दिया था और ताकीद कर दी थी कि वह जल्दी-से-जल्दी बन जाय।

रात को उनकी जल्दी उठने की आदत थी। एक रोज वह ३ बजे उठे और लालटेन लेकर शौच गए। उनके हाथ से लालटेन गिर गई और उसका कांच टूट गया। इसपर उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने उस रोज अपनी डायरी में लिखा—"मैं कैसा आदमी हूँ कि मेरे द्वारा दूसरे को कष्ट होता है, मेरा बोझ दूसरे पर होता है।" जमनालालजी को इन दिनों दूसरों का भी बहुत खयाल रहता था। वह किसी का जरा भी नुकसान बरदाश्त नहीं कर सकते थे। जरा भी भूल होती तो उसका उनके मन पर बहुत असर रहता था।

जैसी-तैसी अधूरी बनी झोंपड़ी में दूसरे दिन ही वे रहने चले गए। उन्हें पूरा एकान्त चाहिए था। इसलिए मैं भी डरती हुई वहां उनके पास रहने नहीं गई, क्योंकि मैं उनके खाने-पीने की या आराम की चिन्ता करूँ, यह उनको बरदाश्त नहीं होता था। वहां उन्होंने अपने पास कौसल्या नाम की एक गाय रक्खी थी। हाथ-मुंह धोकर वे उसकी सेवा करते, उसके बदन को सहलाते। फिर वह अपनी मां के पास चले जाते और उनकी गोद में अपना सिर रखकर भजन सुनते और डायरी लिखते। उसके बाद प्रार्थना करके घूमने जाते। घूमते हुए सबसे मिलते, सुख-दुःख की बात पूछते और जिससे खास बात करनी होती, उसे साथ ले लेते। इस प्रकार रात-दिन जमनालालजी का चिन्तन गो-सेवा सम्बन्धी कामों का ही चलता। कोई व्यापार की बात करता तो कहते, "मेरे साथ व्यापार की बात मत करो।" कुटिया का नाम 'जानकी-कुटीर' रखा था।

इसी बीच राधाकृष्ण खादी के काम से सीकर जाने लगा तो मैं भी

३. मैं तभी जलपान करूँगा जब आप बताओगी कि मेरी मृत्यु कब होगी।

पहली बात की स्वीकृति आसान थी, दूसरी बात की मांग में माताजी ने 'भैया' शब्द चुन लिया। लेकिन तीसरी मांग बड़ी कठिन थी। माताजी ने कहा, "यों मृत्यु का समय तो किसी को बताया नहीं जाता। हां, आदमी को यह समझना चाहिए कि हर क्षण उसके सिर पर उसकी मौत खड़ी है।" इससे जमनालालजी को समाधान नहीं हुआ। बोले, "यह तो ठीक है, पर समय बताओ।" आखिर माताजी ने कहा, "छह महीने की तैयारी से काम करो।" इस वचन पर जमनालालजी को दृढ़ श्रद्धा हो गई, ऐसा लगता है। उनकी डायरियों में मिलता है कि छह महीने तक वर्धा छोड़कर नहीं जाना, रेल या मोटर में नहीं बैठना। यह निर्णय उन्होंने १५ अगस्त१९४१ से १५ फरवरी१९४२ तक के लिए किया था।

इन दिनों उनका आत्म-मन्थन बड़ी तेजी से चल रहा था। वह व्यापारिक तथा अन्य कामों से निवृत्त हो गए और अपनी व्यापारी बुद्धि के अनुसार ऐसा हिसाब बैठाया कि यदि इन छह महीनों में जाना पड़ा तो उसकी तैयारी रहे। ऐसी साधना करें कि अधिक-से-अधिक समय पारमार्थिक कामों और चित्त-शुद्धि में लगे और यदि आगे रहना पड़े तो आदतें सुधर जायं। इसलिए घर-बार से निवृत्ति लेकर जीवन को ऐसे कामों में लगाया, जिससे उनका आत्मीय भाव मूक प्राणियों तक बढ़े। इसीलिए उन्होंने गो-सेवा को चुना था। मानव-सेवा में कहीं-न-कहीं कुछ संघर्ष होना संभव है। जमनालालजी संपूर्ण चित्त-शुद्धि में लग गए। हर क्षण का सदुपयोग करने के प्रयत्न में रहे।

जब उनकी जन्म-तिथि आती तब वह अपने पिछले साल का लेखा लेते और नए स्थान में पदार्पण करते समय अच्छे संकल्प करते। वे संकल्प पूरे हों, इसलिए प्रातःकाल की प्रार्थना के बाद गुरुजनों के आशीर्वाद लेते। उसके बाद ही जल-पान करते।

बापूजी की सलाह से जमनालालजी ने गो-सेवा का कार्य अपने लिए पसन्द किया था और गो-सेवा-संघ की स्थापना करके वह उस काम में लग गए। उन्होंने अपने-आपको इस काम में इतना तल्लीन कर लिया

कि उन्हें गो-सेवा के सिवा दूसरे काम की बात ही नहीं सूझती थी। यों गो-सेवा-संघ की स्थापना तो अक्तूबर, १९४१ में हुई थी और उसके वह अध्यक्ष बने थे, पर उसकी तैयारी तो उन्होंने इसके पहले ही कर ली थी।

वे चाहते थे कि अपना बचा हुआ जीवन प्राचीन ऋषियों की तरह कुटियों में बितावें। इसलिए एक कुटिया गोपुरी के पास बनाकर रहना चाहते थे, जहां रहकर वे गो-सेवा और आत्मचिंतन में समय बितावें। उन्होंने कुटिया बनाना शुरू करा दिया था और ताकीद कर दी थी कि वह जल्दी-से-जल्दी बन जाय।

रात को उनकी जल्दी उठने की आदत थी। एक रोज वह ३ बजे उठे और लालटेन लेकर शौच गए। उनके हाथ से लालटेन गिर गई और उसका कांच टूट गया। इसपर उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने उस रोज अपनी डायरी में लिखा—"मैं कैसा आदमी हूँ कि मेरे द्वारा दूसरे को कष्ट होता है, मेरा बोझ दूसरे पर होता है।" जमनालालजी को इन दिनों दूसरों का भी बहुत खयाल रहता था। वह किसी का जरा भी नुकसान बरदाश्त नहीं कर सकते थे। जरा भी भूल होती तो उसका उनके मन पर बहुत असर रहता था।

जैसी-तैसी अधूरी बनी झोंपड़ी में दूसरे दिन ही वे रहने चले गए। उन्हें पूरा एकान्त चाहिए था। इसलिए मैं भी डरती हुई वहां उनके पास रहने नहीं गई, क्योंकि मैं उनके खाने-पीने की या आराम की चिन्ता करूं, यह उनको बरदाश्त नहीं होता था। वहां उन्होंने अपने पास कौसल्या नाम की एक गाय रखी थी। हाथ-मुंह धोकर वे उसकी सेवा करते, उसके बदन को सहलाते। फिर वह अपनी मां के पास चले आते और उनकी गोद में अपना सिर रखकर भजन सुनते और डायरी लिखते। उसके बाद प्रार्थना करके घूमने जाते। घूमते हुए सबसे मिलते, सुख-दुःख की बात पूछते और जिससे खास बात करनी होती, उसे साथ ले लेते। इस प्रकार रात-दिन जमनालालजी का चिन्तन गो-सेवा सम्बन्धी कामों का ही चलता। कोई व्यापार की बात करता तो कहते, "मेरे साथ व्यापार की बात मत करो।" कुटिया का नाम 'जानकी-कुटीर' रखा था।

इसी बीच राधाकृष्ण खादी के काम से लौटकर जाने लगा तो मैं भी

उसके साथ चली गई। वर्धा में जमनालालजी का नया जीवन-क्रम देखकर मन कुछ खिन्न रहने लगा था। मैं उनके काम में सहयोग तो दे नहीं पाती थी। इस कारण मन के बहलाने के विचार से ही सीकर गई थी।

कुछ दिन बाद रामकृष्ण (सबसे छोटा पुत्र) लेने आया। मैं वापस वर्धा पहुंची।

मेरे लौटने पर जमनालालजी बड़े खुश हुए और हँसकर बोले, "जानकीजी, आ गईं।" उन दिनों जमनालालजी नेत्र-यज्ञ तथा गो-सेवा-सम्मेलन के कामों में व्यस्त थे। मैं बंगले पर रहने लगी। एक दिन वह बोले—"तेरा क्या मन है? सेवाग्राम बापू के पास जाना हो तो वहां जा सकती हो। कुटिया पर आना हो तो कुटिया चलो।" मैंने कहा, "मैं तो कुटिया में चलूंगी।" जमनालालजी बोले, "ला, अपना बिस्तर टमटम में रख।" मेरी तो मनभाती बात हो गई। जल्दी-जल्दी बिस्तर लपेटकर मैंने टमटम में रखा और गोपुरी पहुंच गई। हम दोनों वहां पांच रोज ही साथ रह पाये।

कुटिया में पहुंचने पर जमनालालजी को किसी तरह कष्ट न हो या अशांति न हो, इसका मैं पूरा ध्यान रखने लगी। वह जल्दी उठते थे, पर मेरी आदत कुछ देर से उठने की थी। वह उठ जायें और मैं सोती रहूँ, यह अच्छा नहीं, इसलिए मुझे ठीक से नींद न आती। हमेशा यही खयाल बना रहता कि कहीं वह उठ तो नहीं गए। इसलिए मैंने उनसे कहा कि आप उठ जाया करें तो मुझे भी उठा दिया करें। तबसे वह उठने पर मुझे जगा देते। मैं भी उठकर जैसा वह करते, करने लगती। मेरा मन किसी काम में लगा रहे, इस खयाल से गो-सेवा के लिए आये हुए एक साधु से उन्होंने कहा कि जानकीदेवी को सितार सिखा दो। मैं सीखने लगी, लेकिन जमनालालजी रात-दिन गो-सेवा के काम में ही लगे रहते थे।

गो-सेवा के कार्य को और बढ़ाने की दृष्टि से जमनालालजी ने बापूजी की सलाह से एक गो-सेवा-सम्मेलन का आयोजन किया। सम्मेलन सफलतापूर्वक हुआ। इसमें सारे हिन्दुस्तान से लोग भाग लेने के लिए आये। जमनालालजी को पुराने मित्रों और कार्यकर्ताओं से मिलकर बड़ी खुशी हुई।

: ३४ :

जमनालालजी का देहावसान

सम्मेलन पूरा होने के बाद से उनके सिर में दर्द रहने लगा। उनकी आदत ऐसी थी कि दर्द को चुपचाप बरदाश्त करते। बहुत कम उसकी चर्चा करते। दर्द बहुत होता तभी उनके मुंह से बात निकलती।

मातादीनजी भगेरिया ने गांधीजी सम्बन्धी काव्य लिखा था। इन दिनों वे यहां आये हुए थे और जमनालालजी को वह उसे सुनाना चाहते थे। जमनालालजी की ऐसी अवस्था नहीं थी कि सुनें, पर उनका मन राजी रखने के लिए महिलाश्रम में उन्होंने एक दिन कार्यक्रम रखवाया, जिससे महिलाश्रम की लड़कियां भी सुन सकें। हमलोग भी पहुंचे। जैसे-तैसे यह थोड़ी देर बैठे। जब दर्द बरदाश्त के बाहर हुआ तो उठकर जानकी-कुटीर में चले गए और सो गए। दूसरे दिन भी सिर में दर्द था। अतः बोले कि आज सिर में दर्द है, इसलिए सेवाग्राम नहीं जाऊंगा। लेकिन उन दिनों सेवाग्राम में घनश्यामदासजी बिड़ला ठहरे हुए थे। उनका फोन आया तो वह जाने के लिए तैयार हो गए। जब मैंने कहा कि आपने तो कहा था कि आज दर्द है, इसलिए वहीं न जायंगे, तो वह बोले, "आज बापू का मौन है। घनश्यामदासजी अकेले रहेंगे। उनसे कुछ हँसी-मजाक करेंगे। उनका दिल बहलेगा।" यह कहकर वह टमटम में बैठे और सेवाग्राम को रवाना हो गए। लेकिन उनका सिर-दर्द बढ़ता ही गया। वहां पहुंचने पर महादेवभाई, किशोरलालभाई तथा कृष्णदास गांधी से बोले कि मुझे आपसे बात करनी है, पर आज तो सिर में दर्द बहुत है, फिर आकर बात करूंगा। बिड़लाजी से थोड़ी-बहुत बातचीत करके वापस आए। बापूजी से विदा लेने गए पर वह स्नानघर में थे। वह ऐसे ही लौट आए। बापूजी को मालूम हुआ तो उन्होंने कहा कि सिर में दर्द था तो मैं उन्हें रोक लेता।

सेवाग्राम से वह वापस आए। उन्हीं दिनों चीन राज्य के प्रधान चांग काई शेक के आने की बात थी, इसलिए बजाजवाड़ी में व्यवस्था समझा-कर वह जल्दी ही जानकी-कुटीर लौटे और सो गए। दूसरे दिन सवेरे भी सिर में कुछ दर्द था। इसलिए एनिमा लिया। इससे दर्द कुछ हलका हुआ तो बोले, "देख, मैंने बिना दवाई के ही बीमारी दूर कर ली।" फिर वह घूमने चले गए। मैं भी साथ थी। बजाजवाड़ी पहुँचने पर चांग काई शेक का कार्यक्रम रद्द होने की खबर मिली। वह लोगों से बातचीत करने लगे। मैं भी बंगले में काम देखने में लग गई। उस दिन उन्होंने बंगले की व्यवस्था आदि के बारे में बातें कीं। उसके बाद दुकान जाने को रवाना हुए। आज एकादशी थी और सावित्री ने फलाहार के लिए दुकान पर हम दोनों को बुलाया था। राजनारायणजी, ओम् आदि भी आज ही बम्बई से आए थे। जमनालालजी बोले कि आज तो ताश खेलेंगे, जिससे सिर हलका हो। वह दूकान पर एक साल के बाद आये थे।

कुछ देर सुस्ताने के बाद फलाहार किया। दो बजे सेवाग्राम जाने के लिए टमटम तैयार करने को कहा। लेकिन ओम् बोली कि आज हमें आपके साथ चार बजे तक ब्रिज खेलना है। जमनालालजी बोले, "अच्छा, मैं थोड़ा आराम कर लेता हूँ, तू चरखा लगा दे।" राजनारायणजी से बोले, "तुमसे डेरी-फार्म खोलने की बात करनी है, सो मै उठू तो याद दिला देना।" वह पन्द्रह मिनट सोकर शौच गए। लौटकर आए तो बहुत थके हुए थे और तकिए के सहारे पड़ गए। मैं उन्हें आराम करते देखकर दूसरे कमरे में चली गई। ओम् ने देखा कि काकाजी सोकर उठने के बाद तो फिर सोते नहीं हैं, बात क्या है? सावित्री और ओम् ने उन्हें उठाया। उन्होंने सावित्री से कहा, "मेनथाल हो तो लाओ।" वह दौड़ी-दौड़ी नीचे गई। घर में मेनथाल था नहीं, इसलिए दवाईवाले की दूकान से मंगाया। उस समय उनके सिर में भयानक दर्द हो रहा था। उन्हें उलटी आई। उसके लिए उठे। उल्टी करके फिर लेट गये। मैंने पैरों में घी मसलने के लिए ओम् को बुलाया तो इशारा करके कहा कि तुम्हीं मलो। बहू और बेटी को वह पैर के हाथ नहीं लगाने देते थे। मैं घी मलने लगी। सिर में दर्द ज्यादा बढ़ा तो वह बोले—"अरे, कोई एस्प्रीन दो।" बाद में

उन्हें फिर उल्टी हुई। यह सब देखकर डाक्टर को बुलाया गया। डाक्टर आए। मैंने आंख खोलकर देखी तो लाल सुर्ख थीं। डाक्टर ने रक्त-चाप लिया तो २५० था। उनकी नस काटने की बात डाक्टरों में चली, लेकिन किसी की हिम्मत न पड़ी। थोड़ी देर के बाद सिविल सर्जन ने आंख देखी और वह बाहर चले गये। हमने समझा कि इन्हें कष्ट न हो, इसलिए वह बाहर चले गए हैं। लेकिन समझते देर न लगी कि सबकुछ समाप्त हो गया है। बात चारों ओर फैल गई। विनोबाजी आ गए। बापू को फोन गया। वह भी आए, लेकिन उनके आने के पहले ही वह गो-लोकवासी हो गए थे। जहां वह पहले सोते-बैठते थे, और जहां बैठकर उन्होंने दादाजी को वैराग्य-भरी चिट्ठी लिखी थी, वहीं उनके प्राण गए। श्रोम् ने कहा कि भले ही उन्होंने घर त्यागकर झोपड़ी में वास किया हो, पर वह राजयोगी थे, इसलिए महल में ही गए।

बापूजी को फोन किया तब मुझे डर लगा कि कहीं बापूजी आ गए और इन्होंने आंख खोलकर देख लिया तो! बापूजी को देखकर एक बार तो उन्हें धक्का ही लगेगा, फिर भले ही अच्छा लगे, क्योंकि वह अपने लिए बापूजी को जरा भी कष्ट नहीं पहुंचाना चाहते थे। विनोबाजी तो आकर स्तब्ध बैठ गए, पर बापूजी ने आते ही जमनालालजी के सिर पर हाथ रखा। बापूजी को देखते ही मैं बोली, "बापूजी, आप इनके पास होते तो यह नहीं जाते। इनकी तबीयत बिगड़ते ही जल्दी खबर भेज दी जाती तो अच्छा होता। बस, अब तो आप इन्हें जीवित कर दीजिए। क्या आप इन्हें जिला नहीं सकते?"

बापूजी बोले, "जानकी, तुम्हें अब रोना नहीं है। तुम्हें तो हंसना है और बच्चों को भी हंसाना है। जमनालाल तो जिन्दा ही है। जिसका यश अमर हो, उसकी मृत्यु कैसी? उसकी मृत्यु तो तभी हो सकती है, जब तुम उसके रास्ते न चलो। उसने परमार्थ की जिन्दगी बिताई। जो काम उसने अपने कन्धों पर लिया था, उसे अब तुम सम्हालो। मैं तुम्हें झूठा धीरज देने नहीं आया। जमनालाल तो जिन्दा ही है। उसे जिन्दा रखना हमारा काम है।"

मैंने विनोबाजी की तरफ इशारा करके कहा, "तुम तो इनको भगवान्

के दर्शन कराओ।" पर वह चुपचाप बैठे रहे। बापू बोले, "जानकी, जमनालाल को तो भगवान के दर्शन हो चुके, अब तो तुम्हें करना बाकी है। उसकी तैयारी करो। जो काम उन्होंने आधा किया है, उसे पूरा करो। उसके लिए अपना तन-मन-धन सब होम दो।"

बचपन में सती होने की मेरी इच्छा थी। वह जग उठी। मैं बोली, "बापूजी, मैं सती होना चाहती हूँ। आज्ञा दीजिए।" बापू बोले, "शरीर को जलाने से क्या फायदा? वह तो तुच्छ है, मिट्टी है। अपने सब दुर्गुणों को जला देना ही सच्चा सतीत्व है। अपने सब दुर्गुणों का चिता में होम करो। फिर बाकी बचेगा, वह शुद्ध कंचन रहेगा। उसको कैसे जलाया जाय? उसे तो कृष्णार्पण ही किया जा सकता है। स्त्रियों को त्याग-मूर्ति मानता हूँ, क्योंकि हिन्दू-स्त्री विधवा होने पर सारे भोगों को तिलांजलि देती है, विकारों का शमन करती है। अब तुम त्याग-मूर्ति बन गईं। अपने अवगुणों को जमनालाल की चिता में जला दो। अपना जो कुछ हो, वह उसके काम में लगा दो। यही सती होना है। उठो, तुम सती हो जाओ।" मैं बोली, "मैं और मेरी सम्पत्ति उनके काम के लिए अर्पित है।"

खबर तो चारों ओर फैल गई थी। बम्बई से फोन आया कि लोग स्पेशल गाड़ी लेकर जमनालालजी की अन्तिम यात्रा में शामिल होना चाहते हैं। प्रश्न खड़ा हुआ कि क्या किया जाय। मेरे ध्यान में उनके ये शब्द आ गए, जो उन्होंने बम्बई में अभ्यंकरजी की मृत्यु पर कहे थे, "प्राण चले जाने पर शरीर का क्या? उसके लिए धूमधाम क्यों?" मैंने कहा, "मृत शरीर को रात भर रखना उनकी आत्मा को अच्छा नहीं लगेगा। सबको तकलीफ होगी। वह तो किसी को कष्ट नहीं देना चाहते थे। तब यही निर्णय हुआ कि तुरन्त ही तैयारी की जाय।" राधाकृष्ण ने पूछा कि स्नान कहाँ कराया जाय? मैं बोली, "नीचे चौक में।" घर में गंगाजल का घड़ा था, वह लाया गया। उनकी देह नीचे ले जाने लगे। मैं हाथ पकड़कर 'ओम्-ओम्' कहती हुई चली। गंगाजल से जमनालालजी को नहलाया गया। मेरी चरणामृत पीने की आदत थी, सो मैंने अंजुली भरकर स्नान कराया हुआ गंगाजल पी लिया। मैंने उस जल की शीशी भी भर ली। पर बाद में विनोबाजी के कहने से उस जल को समाधि पर लगाये हुए झाड़ पर

डाल दिया। समाचार मिलते ही लोग इकट्ठे हो गये। किसी को यह बात सच ही नहीं लगती थी। कोई कहता था कि हमने आज उन्हें गोरक्षण में देखा। कोई बोलता था कि बजाजवाड़ी में बैठे थे, किसी ने कहा दूकान पर जाते मैंने देखा। यह कैसे हो सकता है। पर जब वहाँ आकर देखा तो हक्के-बक्के रह गये। नहलाने के बाद बापूजी ने अपना दुपट्टा उनपर उतार कर डाला। जमनालालजी के लिए अन्तिम वस्त्र तो विनोबाजी के कते सूत की खादी का मँगाया गया। मैंने सोचा, बापूजी का दुपट्टा क्यों जलाया जाय, इसलिए उसे उठाकर मैंने गले में लपेट लिया जो अब भी मेरे पास है।

जब अरथी को बाँधने लगे तो दादीजी एकदम चिल्लाई कि यह क्या कर रहे हो। अबतक तो यह समझती रही कि यहाँ कोई बड़ी सभा है, लोग इकट्ठे हुए हैं, गांधीजी भी आए हैं। उन्हें पता भी क्या लगे कि ऐसी भयानक घटना हो गई है, क्योंकि रोना-धोना तो था ही नहीं। कोई भले ही चुपचाप इधर-उधर रो ले, लेकिन जमनालालजी की हिदायत रही कि मौत के समय रोया-धोया न जाय, मौत को बुरा न माना जाय। दादीजी का रोना देखा नहीं जाता था। बापूजी उन्हें बहुत देर तक समझाते रहे, पर उनके रोने को रोकना असम्भव था। इसी स्थान पर उनके तीन बेटे और एक जवाई गया था, उसका स्मरण कर उनका दुःख बढ़ता ही जाता था।

तैयारी होने पर अरथी चलने लगी। मैं भी ओम्-ओम् करती हुई अरथी पकड़े हुए जा रही थी। महिलाश्रम की लड़कियाँ, घर-कुटुम्ब की औरतें, गांव के लोग—मानो समुद्र ही उमड़ पड़ा हो। लड़कियाँ बोल रही थीं—"राम धुन लागी, गोपाल धुन लागी।" सब लोग यही बोलते हुए जा रहे थे। मैंने कहा कि जो कंधा देना चाहे, उसे देने दो। चाहे, हिन्दू हो या मुसलमान, जमनालालजी तो सबके थे।

दाह-क्रिया गोपुरी में जमनालालजी की झोंपड़ी के सामने करना तय हुआ। चिता की तैयारी की गई। कपूर से चिता को प्रज्वलित किया गया। मैंने बापूजी के हाथ में कण्डा दिया। मैं कहीं चिता में न कूद जाऊँ, इसलिए बापूजी ने मुझे पकड़ लिया था। बापूजी ने विनोबाजी को वेद और उप-

निषदों के मन्त्र पाठ करने को कहा। विनोवाजी ने उपनिषदों के मंत्रों का पाठ किया। परचुरे शास्त्री ने भी श्लोक कहे। अब्दुस्सलाम ने कुरान की आयतें कही। बा, महादेवभाई तथा भगवानदेवी सेकसरिया को तो मूर्च्छा आ गई, पर मैं शून्य भाव से चिता की ओर देखती रही। इस समय मन में यही भाव था कि वह मानो मुझमें प्रवेश कर रहे हैं। पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों रात पड़ने लगी, खालीपन का अनुभव होने लगा। विनोबाजी रात भर मेरे पास बैठे थे। मैं उनसे बार-बार पूछती कि अब वह कहाँ मिलेंगे ?

जमनालालजी के जाने की वेदना तो बाद में धीरे-धीरे बढ़ने लगी, और अब तो क्षण-क्षण महसूस होती रहती है।

: ३५ :

सन् ४२ का विद्रोह और उसके बाद

ऐसा मालूम होता है, जमनालालजी को अपने जाने का कुछ आभास पहले से ही हो गया था। पर हम सबको इसकी कोई कल्पना नहीं थी कि वह इतनी जल्दी चले जायंगे। बापू को भी इसकी कल्पना नहीं थी। इसलिए सबको बड़ा भारी धक्का लगा। बापू तो ऐसा महसूस करने लगे मानो उनकी बाँह ही टूट गई। लेकिन बापू तो योगी थे। वह इस दुःख को पी गये और तुरन्त ही सम्हलकर यह विचार करने लगे कि जमनालालजी के कामों को किस तरह सम्हाला जाय।

जमनालालजी के शुरू किये गये विधायक कामों को पूरा करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बापूजी ने जमनालालजी के मित्रों तथा स्नेहियों की एक सभा बारहवी के दिन बुलाई, जिसमें बापू ने कहा कि जमनालालजी के चाहनेवालों, प्रेमियों और मित्रों का यह कर्त्तव्य है कि उनके कामों को करें, जिससे उनकी आत्मा को सन्तोष मिले। उन दिनों वातावरण में गम्भीरता थी और बापूजी, जमनालालजी के प्रति लोगों के हृदय में जो सद्भावना थी, उसे काम में लगाना चाहते थे। एक तो योंही मृत्यु के बाद वैराग्य की भावना उमड़ पड़ती है, फिर जमनालालजी जैसे कर्मशील और प्रेममूर्ति के वियोग से तो वैराग्यमय वातावरण और भी अधिक गहरा हो गया। उसपर बापूजी जैसे महापुरुष के बोलने का प्रभाव तो सबपर पड़ना ही था। उन दिनों मेरा हाल अजीब था। मेरे लिए यह आघात ऐसा था कि मैं सुन्न-सी हो गई थी। उनके जीवन का महान् उद्देश्य पग-पग पर याद आने लगा। उसकी सचाई प्रतीत होने लगी और उसको अपने जीवन में उतारा जाय यही भावना बढ़ती गई।

जमनालालजी के स्वर्गवास के बाद उनके शरीर की साक्षी देकर जो

कुछ मेरे पास था उसके समर्पण का संकल्प तो मैंने कर ही लिया था, लेकिन अब अपने-आपको काम में लगाने की बात थी। हमारे परिवार में बापूजी के विचारों का गहरा असर था। जो कुछ मुझसे बन पड़ा, उसका श्रेय तो बापूजी को ही है। पिछले बीस साल से जो उपदेश वह देते रहे थे, उसीका यह परिणाम था। मैं अपना एक-एक क्षण जमनालालजी के काम में लगाऊं, यही बापूजी भी चाहते थे। इसी कारण बापूजी ने मुझ-पर गो-सेवा की जिम्मेदारी डाली। मैंने गो-सेवा का काम करने का संकल्प तो कर लिया, पर जब मुझसे 'गो-सेवा-संघ' की अध्यक्षा होने के लिए कहा गया तब मेरी हिम्मत नहीं हुई। मैंने बापूजी से कहा कि मैं काम तो करूंगी, लेकिन इतना बड़ा बोझ मुझपर मत डालिए। तब मुझे चुप रहने का इशारा कर उन्होंने गो-सेवा-संघ के काम का बोझ मुझपर डाल दिया और कहा, "तुम्हें ऐसे लोगों की मदद मिलेगी जो तत्त्व और व्यव-हार को सम्भाल सकें।" इस दृष्टि से विनोबाजी तथा घनश्यामदासजी बिड़ला उपाध्यक्ष बनाये गए। वातावरण ही ऐसा था कि बापूजी ने जो कुछ कहा उसे मानना और अपनी शक्ति के अनुसार उस कामको करना, यही सबकी मनोवृत्ति थी। इसलिए विनोबाजी तथा घनश्यामदासजी ने भी स्वीकृति दे दी। बारहवें को मृतक के पीछे सांड छोड़ने की प्रथा है। इसलिए पांच लाख के एक हजार सांड उनके पीछे छोड़ने का संकल्प रामेश्वरदासजी बिड़ला ने किया और उसे उन्होंने पूरा किया।

जब जमनालालजी का देहान्त हुआ तब कमलनयन गोला के शक्कर के कारखाने में था। उसे कलकत्ते से फोन मिला। जब फोन में कहा गया कि वर्धा में बहुत बड़ी दुर्घटना हो गई तो उसके मन में यही विचार आया कि या तो काकाजी नहीं रहे या बापूजी नहीं रहे। लेकिन दूसरे ही क्षण यह विचार आया कि बापूजी की देश को बहुत जरूरत है और उनका रहना आवश्यक है। जब उसे निश्चित रूप से मालूम हुआ कि काकाजी नहीं रहे तब उसने टेलीफोन रख कारखाने के कार्यकर्ताओं और मजदूरों को जमा करके यह दुःखद संवाद बताया और कहा कि काकाजी के शोक में कारखाना बन्द नहीं होना चाहिए। ऐसी गम्भीरता उसमें उस समय थी। घटना हृदय को हिला देनेवाली थी। देश-सेवक पिता के गो-लोक-

वास की खबर पाकर बेटे द्वारा ऐसी बातों का किया जाना मामूली बात नहीं है। लेकिन हमारे यहां ये बातें जमनालालजी के आचरण और व्यवहार के कारण स्वाभाविक बन गई थी। गोला से रवाना होने पर उसे लखनऊ स्टेशन पर माता आनन्दमयी मिल गई। उनकी वर्धा आने की तैयारी थी। जमनालालजी ने पिछले छः महीने में माता आनन्दमयी को वर्धा बुलाने के बहुत प्रयत्न किये थे, लेकिन वह नहीं आ सकी थी। जमनालालजी जब किसीको वर्धा बुलाने का निश्चय करते तब बुलाकर ही चैन लेते, पर माता आनन्दमयी नहीं आई। पर जब वह आ रही थीं, यह अद्भुत घटना थी। कमलनयन ने उनको बताया कि काकाजी तो चले गये हैं, तब वह बोलीं कि 'भैया' को आत्मदर्शन हो रहा है। उसके बाद वह रुक गई और तीन दिन बाद वर्धा आई।

जमनालालजी के शरीरान्त की खबर सुनने के बाद कमलनयन ने जल भी नहीं लिया था। स्टेशन पर जब उसे मालूम हुआ कि विनोबाजी रामायण का पाठ कर रहे हैं तब वह नहाकर वहां पहुंचा। उस समय की उसकी दशा का वर्णन करना कठिन है। आते ही वह मेरे गले से लिपट गया। हम दोनों शून्यवत् थे। रोना तो आता ही न था। लोगों की आंखों से आंसू बह रहे थे। जब उसे छाछ पीने को कहा गया तब मालूम हुआ कि तीन दिन से उसने पानी भी नहीं पिया है। आखिर उसने मुझे छाछ पिलाकर ही स्वयं छाछ पी।

घर के लड़के-लड़कियों, बहुओं सबकी दशा एक-सी थी। जैसे जमनालालजी की आत्मा ने हम सबके अन्दर प्रवेश किया हो, इस तरह हम सब भावावेग में थे। सबके मन में एक यही बात रम रही थी कि उनके कार्यों को करके उनके जैसे बनें। कमल ने वर्धा पहुंचने पर सबसे पहले यह जानने की कोशिश की कि उसके काकाजी ने किस संस्था के लिए क्या देने को कहा था या उनकी क्या इच्छा थी। उसने सर्वप्रथम उनके सब वचनों की पूर्ति की। पवनार का बंगला उसने विनोबाजी को अर्पित किया। बजाजवाड़ी में आने-जानेवालों के लिए जमनालालजी के द्वारा जैसी व्यवस्था चलती थी, वह चालू रखने के लिए एक लाख रुपये उसने लक्ष्मीनारायण मन्दिर में जमा करा दिये, जो सात साल में खर्च हुए और अब वह खर्च

लड़के ही चलाते हैं। दोनों भाइयों ने विचारकरके जमनालालजी की जो सम्पत्ति थी, उसका ट्रस्ट बनवा दिया। जब घनश्यामदासजी बिड़ला ने घर का हिसाब देखा तो वह ताज्जुब में रह गए। बोले कि जमनालालजी तो धन के बल पर नहीं बल्कि आत्मबल पर ही अपना काम चलाते रहे। बिड़लाजी उनके अभिन्न मित्र थे। उनको भी उनकी मृत्यु से बड़ा धक्का लगा। हमारे परिवार के प्रति उनकी आत्मीयता थी और वह अबतक चली आ रही है।

बापूजी ने बारह दिन के बाद मुझे सेवाग्राम बुला लिया। सावित्री भी मेरे साथ सेवाग्राम रहने चली आई थी। उसके जीवन में विशेष परिवर्तन आ गया था। सारे राजसी सुखों को छोड़कर वह आश्रम का जीवन बिताने लगी, और वहां जो कुछ आश्रम का खाना मिलता, वही खाकर आश्रम में काम करती। जब बापू का 'करो या मरो' आन्दोलन शुरू हुआ तब वह भी जेल गई। वह नाजुक तो थी ही और सुख-वैभव में पली थी। उससे जेल-जीवन कैसे बरदाश्त होगा, यह प्रश्न था। लेकिन उन दिनों उसपर भी एक तरह का नशा छाया हुआ था। ओम् भी साथ गई। महिला-आश्रम की अस्सी लड़कियां भी निकल पड़ी। यद्यपि सावित्री ने जेल-जीवन को बड़े उत्साह और आनन्द के साथ बरदाश्त किया, मन को जरा भी कमजोर नहीं होने दिया, तथापि शरीर को आखिर कैसे बरदाश्त होता? वह बीमार पड़ गई। जेल से छूटकर जब वह आई तब उसे कुरसी पर लाया गया। उसका चेहरा देखकर लोगों को रोना आ गया। जेल से उसके स्वास्थ्य पर हुए परिणाम को दूर करने के लिए उसे तीन साल मसूरी रहना पड़ा।

राम भी ९ अगस्त को बापू की गिरफ्तारी के बाद गांवों में जाकर उनका सन्देश सुनाने लगा। पुलिसवाले तो पीछे पड़े ही हुए थे। वह उनको छकाकर गांवों में जाता और लोगों को समझाता। एक बार पुलिसवालों ने उसे खेतों में देख लिया। वे पीछे दौड़े। राम पुल के नीचे छिप गया। पुलिसवालों ने लकड़ी के कुन्दो से मार-मारकर राम को निकाला और बाहर निकालने पर भी उसे बहुत पीटा और अपशब्द कहे। तब उसने कहा, "तुमको मारना है तो जितना चाहो मार लो। लेकिन गाली नहीं दे सकते।" उसे जेल ले गये।" बापू ने 'करो या मरो' का नारा इस तरह

लगाया था कि सबके ऊपर उसका गहरा प्रभाव पड़ा और सभी लोग मरने की परवाह न करके काम करने लगे। धीरे-धीरे सब लोगों को पकड़ लिया गया। कमल इसलिए नहीं जा सका कि राधाकृष्ण के ऊपर सरकार ने ऐसा केस बनाया कि वह फांसी पर ही चढ़ाया जाय। उस केस के लिए उसे बाहर रहना पड़ा और वह हर तरह से आन्दोलन को मदद पहुंचाता रहा। उसने भी तन, मन और धन से इस आन्दोलन में साथ दिया।

मैं गो-सेवा के काम में लगी ही थी कि धीरे-धीरे सब लोग इस आन्दोलन के कारण काम करके जेल चले गये। उस समय गो-सेवा-संघ के मंत्री स्वामी आनन्द थे। सहायक मन्त्री श्री रिषभदास रांका थे। वे भी जेल चले गये, और पारनेकरजी तथा स्वामी आनन्द आंदोलन में लग गये। राधाकृष्ण पर जो केस चला वह भयानक था। वह जेल में था ही। श्रीमन्‌जी भी पकड़े गये। बालुंजकरजी पहले तो आन्दोलन के काम में लगे और बाद में वह भी जेल चले गए। जैसे-तैसे काम चलता रहा। मैं भी थोड़ी-बहुत देख-रेख करती; पर ४२ के इस महान् आन्दोलन के आगे विधायक कामों की ओर कुछ दिनों तक बहुत ही कम ध्यान दिया गया। सरकार ने भी दमन बड़े जोरों का किया। ऐसा मालूम पड़ता था कि अब दस साल तक कांग्रेस फिर नहीं उठ सकेगी। इस तरह से उसे कुचल दिया गया। बच्चों तक को महात्मा गांधी की जय बोलने पर बेरहमी से पीटा गया।

इस आन्दोलन ने अनेकों के बलिदान लिये थे, अनेकों ने कष्ट सहा था। बापू ने भी महादेवभाई को खोया। फिर बा भी गईं। ये आघात तो बड़े थे ही। पर बापू ने तो कई जहर के प्याले पिये थे, इसलिए यह बरदाश्त करते ही गये। यों बापूजी ने यह आन्दोलन बहुत सोच-विचारकर और सरकार को बहुत मौके देकर शुरू किया था। अंग्रेजों को कठिनाई में डालने का उनका इरादा नहीं था। वह उनकी अड़चन से लाभ उठाना पसन्द नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने बहुत मौका दिया। जब अंग्रेजों की नीयत साफ न दिखाई दी और क्रिप्स-मिशन के आने पर बातचीत में उन्हें सन्देह का अनुभव हुआ तब वह तिलमिला उठे। जब वह

दिल्ली से लौटे, तो बहुत ही गम्भीर थे और उन्होंने निश्चय-सा कर लिया था कि अब कुछ कदम उठाना चाहिए। कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की मीटिंगें हुई। उनमें प्रायः सभी बापूजी के विचार के ही थे। राजाजी का विचार भिन्न था। वह कहते थे कि इस मौके से लाभ उठाना ही चाहिए। बापू कुछ ऐसा कदम उठाना चाहते थे कि जिससे या तो आजादी का निश्चित वचन मिले, नहीं तो आत्मोत्सर्ग कर दें। सरकार पकड़े तो आमरण अनशन कर देह त्याग कर दें। अब सब गम्भीरता से सोचने लगे। साथियों से सलाह होने लगी। विनोबाजी से पूछा गया। महादेवभाई और किशोरलालभाई तो ऐसे अनशन का विरोध करते थे। बापू के साथ दलीलें चलती थी, लेकिन विनोबाजी ने तो यह कह दिया कि बापू का विचार ही ठीक है। सब गम्भीर और सुन्न हो गए।

जब बम्बई के लिए बापू रवाना हुए थे, तब ऐसा ही लगता था कि अब फिर शायद बापू नहीं लौटेंगे। बापू बा और महादेवभाई के साथ गये थे, लेकिन जब जेल से छूटकर लौटे तो बा और महादेवभाई साथ न थे। उन्हें अकेले देखकर आश्रमवालों के हृदय विचलित हो गए। दुर्गाबहन की स्थिति का तो कहना ही क्या था। बापू को भी महादेवभाई तथा बा की कमी खटकती थी और जब कोई चीज इधर-उधर हो जाती तो कहते, "पहले क्या मजाल कि कोई चीज जहां रखी जाती थी वहां से इधर-उधर होती। महादेव के नहीं रहने से अब गड़बड़ होती है।"

बापूजी ने धीरे-धीरे अपने विधायक कामों को देखना-भालना शुरू कर दिया और वह फिर काम में जुट गए। यही उनकी विशेषता थी कि जैसी भी परिस्थिति हो उसमें अपने काम को कैसे लाभ पहुंचायें, यह विचारकर काम में लग जाते। अपने-आपका सन्तुलन रखना उनकी विशेषता थी।

'करो या मरो' आंदोलन के बीच मध्य-प्रदेश के चिमूर-आष्टी स्थान के कुछ उत्तेजित लोगों ने हिंसा के काम कर डाले। सरकार के सैनिकों ने उसका बड़ा भयानक बदला लिया, लोगों पर भयानक जुल्म ढाये तथा मां-बहनों की ऐसी लाज लूटी गई कि लोग इन समाचारों को सुनकर स्तब्ध रह गये। इन घटनाओं ने सेवाग्राम-आश्रम के योगी भंसालीजी

को बुरी तरह हिला दिया। वे चिमूर जाने को निकल पड़े। पर सरकार उन्हें वहाँ नहीं जाने देना चाहती थी। उसने उनको पकड़कर सेवाग्राम छोड़ दिया। इसपर भंसालीजी ने अनशन शुरू कर दिया। उनकी माँग यह थी कि चिमूर-आष्टी के अत्याचारों की जाँच की जाय। अनशन तिरसठ दिन तक चला। सारे देश में उससे बड़ी सनसनी फैली। भंसालीभाई की हालत बहुत नाजुक हो गई। श्री कन्हैयालाल माणेकलाल मुनशी, बालुंजकर तथा कमलनयन ने इस प्रश्न को अखबारों आदि में बहुत जोरों से उठाया। सरकार इस मामले को दबाना चाहती थी। लेकिन देश की माँ-बहनों की लाज का प्रश्न था। भंसालीजी ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी। अन्त में सत्य की विजय हुई। सरकार ने भंसालीजी को चिमूर जाने की इजाजत दे दी। तिरसठवें दिन आकर भंसाली भाई ने पारणा किया। देश ने चैन की साँस ली।

: ३६ :

बापू का बलिदान

बापू ने जब फिर से विधायक कामों की तरफ ध्यान दिया तब उनके सामने गो-सेवा-संघ के काम का प्रश्न भी आया। नये सिरे से फिर गो-सेवा-संघ का काम शुरू हुआ। जमनालालजी ने अपने रहते गोरस-भंडार तो शुरू करवा ही दिया था और वह चल रहा था। उसमें गायों का मनों दूध आता और बिकता रहता था। ग्राम-सेवा-मंडल, बच्छराज-खेती तथा लक्ष्मीनारायण मन्दिर की डेरियाँ भी चल रही थीं। व्यक्तिगत रूप से ग्वाले भी गाएँ पालने लगे थे। इस तरह वरधा में गायों के काम की बढ़ती हो रही थी, पर इस काम को बाहर फैलाने और उसे देश-व्यापी बनाने के लिए, बापूजी चाहते थे कि, मैं लग जाऊँ। मैं बापूजी के कहने से इधर-उधर जाने लगी। गो-सेवा-सम्मेलन राजेन्द्रबाबू की अध्यक्षता में बुलाया गया। वह भी इस काम में रस लेने लगे और उन्होंने विहार में काम शुरू करने की दृष्टि से सम्मेलन बुलाया। वहाँ काम शुरू हुआ। मैं आगरा, अमृतसर, पटना, भागलपुर, सीकर, कलकत्ता, बम्बई आदि स्थानों में गई और काम बढ़ाने का यथासम्भव प्रयत्न करती रही।

शांतिकुमार मुरारजी की बापूजी तथा जमनालालजी पर श्रद्धा तो थी ही, वे गो-सेवा का काम करने लगे और संघ के कुछ दिन मंत्री भी रहे। उनका वरधा आना-जाना होता था और वे बड़े प्रेम और श्रद्धा से काम करते थे।

राधाकृष्ण इस काम में काफी रस लेता था और गो-सेवा-संघ के काम की पुनर्रचना में उसका बहुत बड़ा हिस्सा रहा। यों गो-सेवा-संघ का काम तो वह करता ही था, पर दूसरे कामों की जिम्मेदारी भी उस पर इन दिनों थी और खासकर ग्राम-सेवा-मंडल की जिम्मेदारी रहने से रिषभदासजी को फिर मंत्री बनाया गया। वह मेरे साथ कई जगह गए

और काम को बढ़ाने की कोशिश करते रहे। लेकिन इस महान कार्य के लिए जो शक्ति चाहिए थी, उसकी मैं तथा मेरे साथी अपने में कमी पाते और इस काम में विशेष प्रगति नहीं हो पाई। मैं कुछ दिन इस काम में लगी रही; पर न मालूम क्यों, उत्साह कम होता गया और बापूजी ने जितनी अपेक्षा रखी थी उतना काम नहीं हो पाया,इसका मुझे भी रंज रहा। वह भी मुझे 'कामचोर' कहा करते थे। धीरे-धीरे मुझे उनके सामने जाने में संकोच होने लगा। पर मैं करती भी क्या! मुझसे यह भार सम्हाला नहीं गया, या यों कहो, मेरा कोई ठीक-ठीक उपयोग नहीं ले सका।

दिल्ली की भंगी-बस्ती में जब बापूजी रहते थे तब वहां एक बार मैं गई। बापूजी उन दिनों थकान के कारण चार घंटे मौन रहते थे। लेकिन मुझे देखते ही वह एकदम प्रेमवश बोल उठे, "चोर आ गई, चोर आ गई।" यद्यपि बापू ने यह विनोद में कहा था, लेकिन मैं उनकी हँसी में भाग न ले सकी, क्योंकि मैं जानती थी कि इसके लिए उनके मन में कितना दर्द है।

जिस दिन बापू के गोली लगने की खबर आई उस दिन सवेरे राजेन्द्रबाबू वर्धा आए थे। सब लोग खबर मिलने पर राजेन्द्रबाबू के पास इकट्ठे हुए। प्रार्थना हुई। राजेन्द्रबाबू ने दिल्ली जाने का तय किया, पर सबकी राय यह रही कि रात को जाना ठीक न रहेगा। वह रुक गए। लेकिन रात को एक बजे जवाहरलालजी का फोन आया कि उन्हें आना ही चाहिए। उनके लिए विमान की व्यवस्था की गई। उसमें मेरे लिए भी सीट रखी गई। जाने का मेरा मन तो था ही, लेकिन मैंने सोचा कि जब आश्रम वाले सब नहीं जा सकते तब मैं ही कैसे जाऊँ? बापूजी के गोली लगने की खबर से मन पर विचित्र तरह का असर हुआ। पहले तो ऐसा लगा कि कोई विशेष बात नहीं हुई है। फिर यह खयाल आया कि देखो, बापूजी ने जो मुझसे आशा रखी थी वह मैं पूरी नहीं कर सकी। उनके सामने मैं क्या मुंह लेकर जाऊंगी। मेरे मन में यही विचार आया कि बापूजी यदि आँख खोलकर देखेंगे और पूछेंगे कि काम तो करती नहीं, यहाँ क्यों आई? तब मैं क्या कहूँगी? अब जब वह देख नहीं सकते तो क्या मेरा उनके सामने जाना धोखा देना नहीं

है ? यह सोच कर मैं रुक गई। दिल्ली नहीं गई।

रामकृष्ण दिल्ली से वापस आया तो बोला कि माँ, तू वहां क्यों नहीं आई ? तुझे तो आना चाहिए था। उसके कहने पर मुझे भी लगा कि अच्छा होता मैं आखिरी दर्शन तो कर लेती। अब पछताने लगी। मेरे सामने ही तो हवाई जहाज गया था और दूसरे दिन बाबूजी वापस भी आ गए। मैं भी आ जाती। सचमुच मैंने कुछ खोया, बाद में लगा।

बापूजी के जाने से देश में दुःख की लहर फैल गई और कई लोगों पर कई तरह से आघात हुए। हमारे यहां मदालसा पर बहुत ही असर पड़ा। उसने १२ रोज तक अन्न ग्रहण नहीं किया। उपनिषद् की प्रार्थना के कागज छपाकर वह घर-घर जाकर कहती, "अरे, अब तो जागो, बापू को खोकर भी क्या सोते रहोगे ?" उसकी हालत विक्षिप्त जैसी होगई थी। हम सबको बड़ी चिन्ता हो गई। श्रीमन्नारायणजी पर काम का इतना बोझ रहते भी उनके धीरज का पार नहीं था। इधर बापूजी के जाने का दुःख तो था ही, उधर मदालसा की यह हालत। हमें यह डर था कि विक्षिप्त दशा में वह कब क्या कर बैठेगी ? होठों में खून आ रहा था। मुंह में छाले पड़ गए थे।

हमारे घर के सभी लोग ऐसा महसूस करने लगे कि बापू के जाने से हमपर से छत्रछाया उठ गई। बच्चे बापूजी के जाने से अपनेको बिना बाप का मानने लगे, क्योंकि जमनालालजी के जाने के बाद बापू ने उन्हें बाप की कमी महसूस नहीं होने दी थी।

जब अखबारवालों ने पूछा कि बापूजी के विषय में कुछ कहिए तब मैंने कहा, "हम आज बिना बाप के हो गए।" यह [illegible]
में कही। उधर वैसे ही शब्द कमलन[illegible] में [illegible]

बापूजी के जाने का मेरे मन[illegible]
हुआ था, पर धीरे-धीरे जैसे-जैसे [illegible]
लगा और मैं उनके अंतिम दर्शन भी [illegible]
रहने लगा। जब [illegible] बदरी, [illegible]
तब मेरे मन में [illegible]
पर मन में [illegible]

मित है। मेरे जाने से असुविधा होगी। पर मैंने आखिर डरते-
ते व्रजकृष्णजी चाँदीवाला से पूछा कि क्या मैं जा सकती हूँ। वह
द्री-केदार-यात्रा की टोली के अगुआ थे। वह बोले कि पूछने का सवाल
क्या है, आप ही मालिक हैं। यह सुनकर मुझे सन्तोष हुआ। मैंने सोचा
बापूजी को गोली लगने के दिन जो संयम किया था, उसका प्रत्यक्ष
ल मिल रहा है। मुझे ऐसा मालूम होने लगा, मानो बापूजी हाथ पकड़
र यात्रा करवा रहे हैं। मुझे आशा नहीं थी कि मैं गंगोत्री, यमुनोत्री,
द्री-केदार की कठिन यात्रा कर सकूंगी। ऐसी स्थिति में यह योग मेरे
ए अपूर्व था। पर मैं यह भी जानती थी कि इस तरह भस्मी को बड़े-
डे तीर्थों में ले जाना भी आडम्बर है और इसको ज्यादा महत्व नहीं
ना चाहिए। पर लोक-भावना थी कि सैद्धांतिक दृष्टि से भस्मी ले जाना
पू को पसन्द न होने पर भी यह सब क्रिया-कांड अपने-आप होता
था। बापूजी की अस्थियों को स्पेशल ट्रेन से प्रयाग ले जाया गया था,
ब भी मैं नहीं गई थी। कमलनयन ही गया था। मेरे मनपर उस
मय भी सिद्धान्त की बात का ही असर था। पर इस बार तो मुझे
सा लगा कि मैं इस मौके को खो दूंगी तो फिर नहीं मिलेगा। बापू के
थ मेरा उत्तरकाशी का कार्यक्रम था, लेकिन वह नहीं जा सके थे।
ब मुझे ऐसा ही लगा कि मैं बापू के साथ ही जा रही हूँ। यद्यपि बापू
ी भस्मी जा रही थी, लेकिन बापू से भी ज्यादा सम्मान उसका
ो रहा था। टेहरी राज्य की ओर से बड़ी अच्छी व्यवस्था थी। झंडे
कर लोग आगे चलते थे। बाजे बजाते हुए भस्मी ले जाई जा रही थी।
कार्यक्रम निश्चित रहता था। जगह-जगह स्वागत होता जाता था। छोटे-
ड़े, धनी-गरीब, बड़े-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, विद्वान-अनपढ़, साधु-संन्यासी सभी
भस्मी को प्रणाम करने और श्रद्धा भेंट करने आते थे। ऐसे-ऐसे साधु भी
आए, जो कभी अपनी गद्दी से नीचे उतरना और किसीके सामने जाना
छोटापन समझते थे। लेकिन बापू ने सबके हृदय में जो स्थान पाया था,
वह अवर्णनीय था। हम लोगों की सुख-सुविधा की भी बहुत अच्छी
व्यवस्था थी और गांधीजी के भक्त समझकर हमारे प्रति आदर प्रकट
किया जाता था।

: ३७ :

बजाजवाड़ी सूनी हो गई

यों तो जमनालालजी के स्वर्गवास के बाद बजाजवाड़ी की चहल-पहल कुछ अंशों में कम हो गई थी, फिर भी जबतक बापू सेवाग्राम में थे तबतक आने-जानेवालों का तांता लगा ही रहता था। बापूजी के जाने के बाद लोगों का आना-जाना कम हो गया। लेकिन किशोरलाल-भाई के बजाजवाड़ी में बसने से एक तरह से वह उनकी बस्ती बन गई थी और वहां 'हरिजन' के काम के लिए कुछ काम करनेवाले रहते थे। इससे तथा किशोरलालभाई से मिलने-जुलने को आनेवालों से कुछ चहल-पहल रहती थी। जब मेरा मन न लगता तब मैं उनके पास चली जाती। जब भी जाती वह और गोमतीबहन काम में लगे हुए दीखते। उन दोनों का शरीर तो हड्डियों का ढांचा मात्र था। बीमारी लगी ही रहती थी। कहते हैं, बीमारी से मनुष्य चिड़चिड़ा हो जाता है, पर किशोरलालभाई तो इतनी तकलीफ भुगतकर भी सदा हँसमुख ही रहे। मैं जाती तो काम छोड़कर देखने लगते और कहते, "केम बोलवानु प्रण कर्यु छे !" मतलब यह कि मैं उनसे बात करूं। मुझे डर लगता था कि उनसे बात करने से उनके काम का बोझ और बढ़ जायगा। वह जैसे महान् तत्व-ज्ञानी, विचारक और सिद्ध पुरुष थे, वैसे ही व्यावहारिक भी थे। इसलिए उनसे व्यवहार की सलाह लेने को सभी आते थे। उनको थकान होगी, यह जानकर भी उनकी सलाह लेना सबको जरूरी मालूम देता था। मुझे वरधा बजाजवाड़ी में अकेले रहते देखकर एक बार उन्होंने राम से कहा, "रामकृष्ण, जानकीबहन को यहां रखने की अपेक्षा या तो किसी काम में लगाओ या अपने पास रखो, क्योंकि इस तरह उनको मेरा छोटे-छोटे कामों में मन लगाना अच्छा नहीं लगता।" रामकृष्ण ने कहा कि तुम बम्बई

कि जगह खाली नहीं है। समय पर यदि कोई व्यक्ति न आए तो स्थान मिल सकता है। यों तो विमान में जाने का खर्च बरदाश्त करने की हिम्मत बहुत कम पड़ती, लेकिन आज तो मुझे वरधा के सिवा दूसरा कुछ भी सूझ नहीं रहा था। मैं और रामकृष्ण तो थे ही, नीलूभाई के बहनोई भी थे। इस प्रकार तीन जानेवाले थे। जब राम ने पूछा कि अगर जगह एक ही मिले तो कौन जायगा? मैंने कहा, "मैं तो रह नहीं सकती।" हम विमान पर गए। संयोग से वहाँ तीन जगह खाली मिल गईं। हम सुबह ५ बजे बजाजवाड़ी पहुँचे।

उस समय किशोरलालभाई को माथे के नीचे तकिए का सहारा देकर सुलाया था। गले में फूल और सूत की मालाएं पहनाई गई थीं। वह गाढ़ी निद्रा में सोए हुए लग रहे थे। चेहरे पर अपूर्व शान्ति थी। गीता का पाठ हो रहा था। वातावरण गम्भीर और शान्त था।

सिरहाने गोमतीवहन बैठी थीं, मानो करुणा की मूर्ति हों। आँखों से आँसू बह रहे थे। आँखें सूज गई थीं, पर हिम्मत और धीरज से वह इस दुःसह दुःख को सहन कर रही थीं। उन्होंने जीवन-भर किशोरलालभाई में लीन होने का प्रयत्न किया था। अब उनका इस तरह चले जाना लोगों को भी असह्य था, तो फिर गोमतीवहन की तो बात ही क्या थी!

किशोरलालभाई बीमार ही रहते थे। कई बार तो उन्हें सांस लेने में भी कठिनाई होती थी। लेकिन आज जैसे उनकी सारी तकलीफें दूर हो गई हों। वे शांति से सोये हुए मालूम देते थे। श्रीकृष्णदास जाजू जैसे वैरागी भी किशोरलालभाई के जाने से [illegible] हो गए। आंसुओं को वह भी नहीं रोक सके।

बनाकर पिलाती। पीनेवालों को संकोच तो होता था, पर इलाज भी क्या था। गोमतीबहन के स्वभाव में ही समाई हुई थी।

हम सबकी यही इच्छा थी कि गोमतीबहन वरधा में ही रहे, पर वह बारडोली चली गईं और उनके जाने से बजाजवाड़ी की चहल-पहल और भी कम हो गई।

कि जगह खाली नहीं है। समय पर यदि कोई व्यक्ति न आए तो स्थान मिल सकता है। यों तो विमान में जाने का खर्च बरदाश्त करने की हिम्मत बहुत कम पड़ती, लेकिन आज तो मुझे वरधा के सिवा दूसरा कुछ भी सूझ नहीं रहा था। मैं और रामकृष्ण तो थे ही, नीलूभाई के बहनोई भी थे। इस प्रकार तीन जानेवाले थे। जब राम ने पूछा कि अगर जगह एक ही मिले तो कौन जायगा ? मैंने कहा, "मैं तो रह नहीं सकती।" हम विमान पर गए। संयोग से वहां तीन जगह खाली मिल गईं। हम सुबह ५ बजे बजाजवाड़ी पहुँचे।

उस समय किशोरलालभाई को माथे के नीचे तकिए का सहारा देकर सुलाया था। गले में फूल और सूत की मालाएं पहनाई गई थी। वह गाढ़ी निद्रा में सोए हुए लग रहे थे। चेहरे पर अपूर्व शान्ति थी। गीता का पाठ हो रहा था। वातावरण गम्भीर और शान्त था।

सिरहाने गोमतीबहन बैठी थी, मानो करुणा की मूर्ति हों। आंखों से आंसू बह रहे थे। आंखें सूज गई थी, पर हिम्मत और धीरज से वह इस दुःसह दुःख को सहन कर रही थीं। उन्होंने जीवन-भर किशोरलालभाई में लीन होने का प्रयत्न किया था। अब उनका इस तरह चले जाना लोगों को भी असह्य था, तो फिर गोमतीबहन की तो बात ही क्या थी!

किशोरलालभाई बीमार ही रहते थे। कई बार तो उन्हे सांस लेने में भी कठिनाई होती थी। लेकिन आज जैसे उनकी सारी तकलीफें दूर हो गई हों। वे शांति से सोये हुए मालूम देते थे। श्रीकृष्णदास जाजू जैसे वैरागी भी किशोरलालभाई के जाने से विह्वल हो गए। आंसुओं को वह भी नही रोक सके।

उस समय ऐसा लगता था मानो किसी बड़े हवन या पूजन की तैयारी हो रही हो। अर्थी के साथ महिलाश्रम की लड़कियां, बहनें तथा हजारों लोग थे। गोमतीबहन भी साथ गईं। करीब दस बजे गोपुरी में जमनालालजी की समाधि के पास दाह-क्रिया हुई। दोनो में भाई-जैसा प्रेम और मैत्री थी। जाने के बाद दोनो की दाह-क्रिया भी पास-पास ही हुई।

बाहर के काफी लोग थे, क्योंकि किशोरलालभाई के मित्र और आत्मीय बहुत अधिक थे। उनको गोमतीबहन स्वयं अपने हाथ से चाय

बनाकर पिलातीं। पीनेवालों को संकोच तो होता था, पर इलाज भी क्या था। गोमतीबहन के स्वभाव में ही समाई हुई थी।

हम सबकी यही इच्छा थी कि गोमतीबहन वरधा में ही रहें, पर वह बारडोली चली गईं और उनके जाने से बजाजवाड़ी की चहल-पहल और भी कम हो गई।

: ३८ :

विनोबा के यज्ञ में

विनोबाजी को पहले-पहल मैंने साबरमती में देखा। वह तथा उनके भाई बालकोबाजी दिनभर गड्ढे आदि खोदते रहते। हमने सुन रक्खा था कि वह श्रम करके कम-से-कम, यानी आने-दोआने में, खर्च चलाते थे। वह बोलते कम थे। गीता का वर्ग लेते थे। उनके वर्ग में स्त्रियाँ भी जाती थीं। पढ़ाते समय समझाते बहुत अच्छा थे। समय के बड़े पाबन्द थे। वर्ग में अगर कोई विद्यार्थी एक मिनट भी देर से पहुँचता तो उसे वर्ग के बाहर खड़ा रहना पड़ता। वह पढ़ाते समय इतने ज़ोर से बोलते कि स्वयं पसीना-पसीना हो जाते। जब गीता का वर्ग शुरू करने की बात चली, तब उन्होंने पढने की इच्छा रखनेवाले विद्यार्थियों की योग्यता की जाँच करने के लिए एक-एक को बुलाकर सबसे गीता के नौवें अध्याय का नौवाँ श्लोक पढ़ने के लिए कहा। मैं भी उनमें थी। आगे चलकर मालूम हुआ कि यह श्लोक गीता में सबसे ज्यादा संयुक्ताक्षर वाला है।

विनोबाजी तथा उनके दोनो भाई बालब्रह्मचारी हैं। विनोबाजी विद्वान तो हैं ही, इसलिए उनका हम लोगों पर बहुत प्रभाव था और हमारी उनके प्रति श्रद्धा भी खूब थी। लेकिन उनसे बोलने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी, क्योंकि वे बहुत कम बोलते थे। मेरे मन पर भी उनका प्रभाव था। मैं सोचती थी कि मेरे बच्चे भी उनके जैसे ही बनें। एक दिन जब जमनालालजी ने मुझसे पूछा कि मैं अपने बच्चों को क्या बनाना चाहती हूँ तो मैंने कह दिया कि विनोबा-जैसा फकीर बनाना चाहती हूँ। मैंने तो ये शब्द भावनावश कह दिये थे, पर जमनालालजी तो उनके गंभीर अर्थ को समझते थे और यह भी जानते थे कि यह अपने हाथ की बात

नहीं है। उन्होंने कहा, "शब्द तो बड़े-बड़े सीख गई है, पर उसका अर्थ भी जानती है ?"

मैं यही सोचती थी कि मेरे बच्चे भीष्म के समान ब्रह्मचारी और विद्वान् बनें। शादी-ब्याह तो सब करते हैं, लेकिन इससे बचने में ही विशेषता है। इसकी बच्चों के सामने चर्चा चलती। एक बार कमलनयन मजाक में बोला, "तूं तो नौ बरस की विवाह कर लियो, म्हांने फकीर बणाने में तने के जोर आवे ?" हमारे परिवार में तीन पीढ़ी के बाद बच्चे हुए थे। उनपर सबका लाड़-प्यार रहना स्वाभाविक था। फिर भी मैंने भावना और श्रद्धावश बच्चों को विनोबाजी के पास सीखने के लिए छोड़ दिया। केवल लड़कों को ही नहीं, पन्द्रह-पन्द्रह बरस की लड़कियों को भी उनके हवाले कर दिया। जहां विनोबाजी के आश्रम में लड़कों का रहना कठिन था, वहां लड़कियों को भी रखना आसान थोड़े ही था। विनोबाजी तो लड़के और लड़की में कोई भेद ही नहीं समझते थे। सबसे समान परिश्रम कराते थे।

साबरमती में उनके प्रति जो श्रद्धा पैदा हुई थी, वह वरधा में उनका सम्पर्क बढ़ने पर बढ़ती ही गई। जमनालालजी और बापू के चले जाने पर जो रीतापन अनुभव हुआ उससे विनोबाजी के और निकट जाना आवश्यक हो गया। मैं उनके साथ अनेक स्थलों पर घूमती रही। विनोबाजी का खान-पान, रहन-सहन, चलना-फिरना सब मुझे मनभाता लगता है। उनके साथ रहने में मुझे जीवन की सार्थकता महसूस होती है।

एक बार मैंने सपने में देखा कि मुझे मेरा स्वर्गीय छोटा भाई हाथ के झालें देकर बुला रहा है। जागने पर मैं उस सपने को भुला न सकी। खादी का कुरता पहने, सफेद टोपी लगाये स्वर्गीय भाई का मुझे 'बाई आओ, बाई आओ' कहकर बुलाना ऐसा लगा, मानो अब मृत्यु का बुलावा आ गया है। मेरे मन में एक प्रकार का वहम घुस गया कि मैं अब बारह महीने में मर जाऊंगी। मैंने तय किया कि जो हो, बारह महीने तक विनोबाजी के साथ ही रहना चाहिए। अगर मैं मर जाऊं तो उनकी उपस्थिति में मरूं। इस तरह मैं विनोबाजी के साथ बारह महीने रही। बारह महीने पूरे होने पर मुझे विश्वास हो गया कि अब मैं एक बार तो

बच ही गई।

शादी के बाद जब ओम् लाल-पीले कपड़े पहनकर विनोबाजी को नमस्कार करने गई तब वह बोले, "आओ होलिकाजी।" मैंने कहा, "यह शादी के बाद आई है। आपने इसे होलिका कैसे कहा?" बोले, "लाल रंग तो होलिका का है।" मैंने पूछा, "फिर अच्छा रंग कौन-सा है?" उन्होंने कहा, "हरा रंग अच्छा, क्योंकि इसमें सृष्टि का स्वाभाविक सौन्दर्य भरा है।" मुझे बात जँच गई। मैंने अपने तकली पर कते सूत के ढाई गज लम्बे दुपट्टे बनवाये। चालीस बने। उन्हें मैंने हरा रंगवाया और बापूजी के भस्मी-प्रवाह के दिन, यानी बारह फरवरी को, जिस दिन पवनार में मेला लगता है, मैंने एक-एक दुपट्टा विनोबाजी तथा तुकड़ोजी को भेंट किया। विनोबाजी ने उस हरे दुपट्टे को दुपहरी की धूप में सिर पर ओढ़ लिया। जब मैंने तुकड़ोजी से उस दुपट्टे के हरे रंग तथा तकली के सूत का इतिहास बतलाया तो उन्होंने उस दुपट्टे को गले में लपेट लिया। विनोबाजी ने तो अपनी सर्वोदय-यात्रा तथा तेलंगाना की यात्रा में उस दुपट्टे का अच्छी तरह से उपयोग किया। मुझे ऐसा लगता है कि तकली से फुरसत में कते सूत, विनोबाजी के सुझाये रंग और मेरे प्रेम से भेंट करने के कारण उस दुपट्टे ने यह स्थान पाया। आज भी विनोबाजी उसका उपयोग भूदान-यात्रा में करते हैं। महादेवीताई ने फिर तो विनोबाजी की चद्दर आदि हरे रंग के ही करा लिये।

एक बार जमनालालजी ने विनोबाजी से चर्चा की थी कि राम-लक्ष्मण की तो सब पूजा करते हैं, पर तपश्चर्या तो भरत की कम नहीं थी, लेकिन भरत का मन्दिर कहीं देखने में नहीं आता। उन्होंने कहा कि मन्दिर तो क्या बनेगा; लेकिन अपने मन्दिर में भरत की मूर्ति रखी जाय तो अच्छा। इसके कुछ दिनों बाद जमनालालजी जेल चले गए। पवनार में खुदाई के समय मूर्तियाँ निकलती रहती थीं। विनोबाजी गढा खोद रहे थे तो वहाँ भरत-भेंट की मूर्ति मिल गई। विनोबाजी को जमनालालजी की इच्छा स्मरण हो आई। उन्होंने वहाँ एक छोटे-से मकान में उस मूर्ति की स्थापना की और खुद वहाँ पाठ करने लगे। पाठ इतने ज़ोर से करते कि पसीने में तर हो जाते। पाठ के समय ऐसे तन्मय होकर बोलते कि उस अद्भुत दृश्य को देखने के लिए गाँव तथा आसपास

तक के लोग इकट्ठे हो जाते। जैसे विनोबाजी का यह प्रयोग चल रहा था, वैसे ही पवनार में कांचन-मुक्ति का भी वह प्रयोग कर रहे थे। वह चाहते थे कि संस्थाएँ परावलम्बी न रहें, परिश्रम पर ही उनका खर्च चले। पेट में फोड़ा (अल्सर) हो जाने से उन्होंने परिश्रम करके अपना स्वास्थ्य ठीक करने का निश्चय किया। उनका प्रवास के लिए मन नहीं था। पर जब हैदराबाद के सर्वोदय-सम्मेलन में उनका हाजिर रहना कार्यकर्ताओं को आवश्यक मालूम दिया तब उन्होंने वहां जाने का निर्णय किया और पैदल चलने का निश्चय। इस तरह की यात्राएँ करने की उन्हें पहले से ही रुचि थी।

विनोबाजी ने वरधावासियों से ८-३-५१ को विदा ली। लक्ष्मी-नारायण-मन्दिर में प्रार्थना के बाद विदाई का भाषण हुआ। उसमें उन्होंने कहा, "सम्भव है, हैदराबाद से आगे भी बढ़ूं। उस हालत में वापस कब जाऊँगा, यह नहीं सकता। इसलिए यह विदाई आखिरी भी हो सकती है।" वह ऐसी गम्भीरता के साथ बोले, मानो वह आखिरी विदाई हो रही हो। इसलिए वह प्रसंग वरधावासियों के लिए राम-वनवास-जैसा ही लगा।

मैं उनका विदाई का भाषण सुन अपने आपको रोक न सकी। मैंने उनसे कहा, "जैसे आपको जाने का अधिकार है,वैसे ही हमको लाने का भी है। भरत की तरह हम लोग आपको वापस लिवाने आ सकते हैं। हम विमान में भी चढ़ा ला सकते हैं।" मैं पहले पड़ाव तक उनके साथ गई। उस दिन चौदह मील पर पड़ाव था। उनके हैदराबाद पहुँचने के पहले ही मैं ७ मील के मुकाम पर पहुँची। मैं जब उनके साथ चलती हूँ तब वह प्रति घंटा साढ़े तीन मील की चाल चलते हैं। लेकिन उन दिनों उनकी चाल पाँच मील प्रति घंटा हो गई थी। उस दिन ७ मील ही चलना था, इसलिए साढ़े चार मील की रफ्तार से चले। इससे मैं एकदम थक गई। पड़ाव पर पहुँचते ही बाँस के टट्टे की बनी झोंपड़ी में जाकर सो गई। उधर से धूप तप रही थी। उठकर ठंडे पानी से नहाई। कपड़े धोकर सुखा दिए। उस दिन रसोड़े में पूरणपोली और भजिये बने थे। ये पक्वान्न स्वाद लगने से ज्यादा खाने में आयंगे, इस डर से मैं घर से लाई हुई बासी पूड़ियाँ ही खाकर सो गई। उससे बुखार आ गया। महावीरप्रसादजी

पोद्दार सम्मेलन में आये हुए थे। उनके प्राकृतिक इलाज से कुछ दिनों में तबीयत ठीक हुई, पर सर्वोदय-सम्मेलन में मैं विशेष हिस्सा न ले सकी और तबीयत ठीक न होने से विनोबाजी के साथ तेलंगाना भी न जा सकी। हैदराबाद से लौटते समय भूदान-यज्ञ प्रारम्भ हो गया। विनोबाजी मध्य-प्रदेश में भी आये तो वहां भी वह काम चला। शुरू से ही विनोबाजी का प्रत्येक काम मुझे अच्छा लगता रहा। इसलिए यह भी अच्छा लगा। पर यह काम इतना बड़ा है, यह मैं नहीं जानती थी। चांदिल-सर्वोदय-सम्मेलन में गई तब वहां का उत्साह और वातावरण ही कुछ दूसरा दिखाई दिया। सबमें उत्साह था और सबको ऐसा लग रहा था कि इस यज्ञ में सबको भाग लेना चाहिए। राजेन्द्रबाबू का भाषण बहुत प्रभावशाली हुआ, लेकिन विनोबाजी का भाषण तो अद्भुत था। सबकी चेतना को उसने जगा दिया। बीच के समय में औरतों का सम्मेलन था। निर्मला के कहने से मैं अध्यक्ष बन गई और मैंने बहनों से कांचन-मुक्ति के लिए अपील की कि वे अब जेवर छोड़ दें।

एक बंगाली लड़की ने अंगूठी लाकर दी। विनोबाजी आ गए थे। मैंने वह अंगूठी उनकी अंगुली में पहना दी। फिर बहुत-सी बहनें एक-एक करके जेवर लाने लगीं। एक बहन ने मंगल-सूत्र भेजा। मैंने विनोबाजी के गले में पहनाया तो वह दाढ़ी में उलझ गया। सब हँसने लगे। कइयों को तो यह बात अचरजभरी लगी कि इतने गम्भीर सन्त से विनोद करने की हिम्मत भी किसी की हो सकती है। जयप्रकाशजी ने कहा कि मैं यह नहीं जानता था कि विनोबाजी से इतना मजाक आप कर लेती हैं! वहां करीब २८ तोला सोना इकट्ठा हुआ। विनोबाजी से पूछा कि इसका क्या किया जाय? वह बोले, "बहनों के प्रेमपूर्वक दिये हुए दान का उपयोग जल के लिए होना ही अच्छा है।" इसलिए कुओं का निर्माण जरूरी समझा गया, क्योंकि मनुष्य तो जैसे-तैसे पानी प्राप्त कर लेता है, लेकिन पशु बिना पानी के बहुत कष्ट पाते हैं। इसलिए उनकी सेवा कुंओं के द्वारा अधिक होगी और भूमि भी हरी-भरी बनेगी। इसलिए कूपदान चल पड़ा।

मैं चांदिल-सम्मेलन के बाद बिहार में रह गई और घर-घर जाकर मा-बहनों से कुंओं का दान मांगने लगी। माताएं धार्मिक भावनावाली

होती हैं। उनकी भावना को चाहे जिस ओर मोड़ा जा सकता है। चाहिए केवल उनकी भावना का ठीक-ठीक उपयोग करनेवाला। समय और स्थान का भी मुझे कोई खयाल नहीं रहा। गयाजी में मेरी कोई विशेष जान-पहचान नहीं थी। घर-घर बहनों के पास जेठ-बैसाख की धूप में भी घूमती। तीन-तीन, चार-चार मंजिल पर चढ़ती और अपनी बात सम-झाती। आजकल मांगनेवालों से कोई खुश तो नहीं रहता, पर मुझे तो धुन लगी हुई थी। मेरे मन में विचार आया कि एक सौ आठ कुएं हों। सूत की एक लटी में तारों की यही संख्या होती है। पहले महीने में कोई सिलसिला नहीं जमा। निराशा-सी होने लगी। मन डगमगाने लगा कि एक सौ आठ की जगह आठ भी हो जायं तो बड़ी बात है। जब मैं कहती कि गायों के लिए पानी पीने को नहीं मिलता है तब बड़े घरों की स्त्रियां कहती कि पानी तो बहुत है। तब मैंने कहा कि एक दिन देहात में चलो। गया के श्री भूपराजा बड़े भावनावाले जमींदार हैं। वह गांधीजी तथा विनोबाजी के बड़े भक्त हैं, लेकिन उनको या उनके घरवालों को यह कल्पना नहीं थी कि दरअसल कुओं के बिना गांवों में पशु तथा मनुष्यों को कितना कष्ट है। मोटर में बैठाकर उन्हें तथा उनके घरवालों को देहात में ले जाने का कार्यक्रम बनाया। हम जब देहातों में पहुँचे तो उन्होंने देखा कि गरमी में चारों ओर सूखा-ही-सूखा है। गरमी में पशुओं की हड्डियां दिखाई दे रही हैं और बिना पानी और चारे के वे बेहाल हो रहे हैं। पचास घरों में केवल एक कच्चा कुआं था, सो भी बारिश में बन्द हो जाता था। उन्हें हर साल नया खोदना पड़ता। चूना, ईंट, सीमेंट से पक्का बनाने की उनकी शक्ति नहीं थी। यह हाल देखकर बहनों का हृदय पसीज गया। वे बोलीं, "सौ तोले की जगह हम दस तोला सोना पहन-लेंगी, लेकिन कुआं बनवायेंगी।" फिर गांववालों को इकट्ठा कर उनसे बात की। गांववालों ने कहा कि हम कुआं खोद लेंगे, ईंट बना लेंगे। हमें चूना और सीमेंट आदि ही चाहिए। गांववाले अपने श्रमदान से कुआं बना लेंगे, इसलिए पांच सौ रुपया एक कुएं के लिए मिलने से काम चल जायगा। १०८ कुओं के लिए कम-से-कम पचास हजार रुपया होना चाहिए। हवा फैल गई। गया में लक्ष्मीनारायणजी डालमिया रहते हैं।

साधु-सन्तों के भक्त हैं। उन्होंने दस तोला सोना दिया और सत्यदेवजी से भी मैंने दस तोला सोना लिया। धीरे-धीरे वहां ३६ कुएं खुदे और ३० के वचन मिले। दूकान पर सीमेंट लेने लगे तो लारीवाले बिना किराए के सामान पहुंचाने लगे, सिर्फ पेट्रोल ही लेते।

विनोवाजी पैदल घूमकर एक महीने में रांची आए और मैं गया से रेल से गई। रांची में भी घर-घर समझाने लगी कि विनोबाजी आवें तो उनको कुओं की भेंट दी जाय। १३।। तोला सोना और तीस कुओं के लिए पांच-पांच सौ के वचन मिले। वर्षा शुरू होने से कुएं बनाने का काम तो हो नहीं सकता था, इसलिए रकम वहीं पंचों के पास रखकर मैं कलकत्ता गई। वहां ६१ कुओं के लिए तीस हजार पांच सौ रुपए तथा ४।। तोला सोना मिला। यह रकम खादी-भंडार में जमा करा दी गई। कलकत्ते में सभी लोग परिचित थे। मैं इस तरह घर-घर घूमूं, यह उन्हें रुचिकर नहीं लगा। वे बोले कि आपको एक-दो जगह से रकम मिल जाय तो काम हो सकता है, फिर इस तरह क्यों घूमती हो? पर मैं बोली, "मुझे तो स्त्रियों में प्रचार और देश की मांग की जानकारी कराने के लिए घूमना है।" इसलिए घर-घर घूमती रही। जब मैं झील पर, जहां लोग सबेरे घूमने जाते हैं, कुएं मांगने पहुंचती तो घनश्यामदासजी बिड़ला हंसकर कहते, "आज मैयाजी की झोली में कितने कुएं पड़े?" मैं कहती—"आज दो पड़े, आज कुछ नहीं मिला।" मैं उनसे तो क्या मांगती!

एक दिन घनश्यामदासजी बोले, "बिड़ला-पार्क आना।" यों जब भी कलकत्ते जाने का काम पड़ता और वह मिलते तो बुलाते ही रहते। मैं भी जब कलकत्ता जाती तब मिलने जाया करती। मैं मिलने गई। उस दिन उनसे कई बड़े-बड़े लोग मिलने आए थे और वह काम में बहुत घिरे थे। परन्तु खबर मिलते ही वह एकदम बाहर आकर मेरे पास बैठ गए और प्रेम से पुरानी बातें करने लगे। बोले, "मेरा और जमनालालजी का क्या सम्बन्ध था, यह तुमसे छिपा नहीं है।" यह सुनते ही मेरी आंखों में आंसू आ गए। वह भी गम्भीर हो गए। थोड़ी देर बाद बोले, "पांच कुएं तुम्हारी झोली में गिराने हैं।" मैं बोली, "इतने तो बहुत हैं, एक आदमी का एक कुआं, बस!" वह बोले, "मेरे तीन बेटे और तीन बहुएं हैं। तो छः कुएं

ले लो।" तब मैं बोली, "पानी तो बेटा बहुई पीसो। म्हें बिनाइ-पाणी रेस्यां ?" मैं वहां से चली आई। इसके पहले मैंने जुगलकिशोरजी को एक पत्र लिखकर एक कुआं मांगा था। उन्होंने भी पांच सौ रुपए भेज दिये थे।

यों तो कलकत्ते से आने का मेरा मन नहीं था, वहीं पर कुओं का काम करना था, पर गायों के विषय में एक शिष्ट-मण्डल प० जवाहरलाल-जी के पास जा रहा था, उसमें जाने के लिए मुझे दिल्ली बुलाया गया, इसीलिए मुझे वहां जाना पड़ा।

जब मैं दिल्ली पहुँची तो वहां वालों ने कहा कि यहां कुओं का काम नहीं हो सकेगा, यहां रोज ही चन्दे हुआ करते हैं। फिर भी मैं बृजकृष्ण-जी चादीवाला तथा नन्दलाल मेहता के पीछे पड़ी और मैंने घर-घर फिरना शुरू किया। सवेरे आठ बजे से शाम के आठ बजे तक यही धुन। एक दिन बाबा राघवदासजी बोले, "पंडित जवाहरलालजी से कुआं कौन लाये ?" मैंने कहा—"मैं लाऊँगी।" ११ सितम्बर शुक्रवार को ग्यारह बजे उनसे मिली। उस दिन विनोबाजी का जन्म-दिन था। मैं रामे-श्वरीबहन तथा ओम् के साथ पहुँची। जवाहरलालजी पार्लामेंट से आए ही थे। थके हुए थे, मानो सोकर उठे हों। देखकर दया-सी आई और ऐसा लगा कि ऐसे थके हुए से बात न करूँ तो अच्छा। मगर समय लिया तो बात तो करनी ही थी। मैंने कहा, "आज विनोबाजी का जन्म-दिन है, आपको हँसना पड़ेगा।" वह बोले, "खूब हँसूगा।" बैठ गए और फिर कूप-दान की बातें चलीं। रामेश्वरीबहन ने कहा कि ये औरतों से जेवर लूटती हैं और इस कार्य में जोरों से लग गई हैं। उन्होंने वह जेवर देखा, जिसको मैंने विनोबाजी के गले में पहनाया था। फिर मैंने कहा—"भीष्म पितामह को अर्जुन ने पृथ्वी में बाण मारकर पानी पिलाया था, वैसे ही आप तीर मारकर पाताल फोड़िए, जिससे विनोबाजी को पानी-ही-पानी मिल जाय।" वह खूब हँसे। मैंने कहा कि अपने नाम का एक कुआं दीजिए। आपका आशीर्वाद चाहिए। रामेश्वरीबहन ने कहा कि राजघाट की प्रार्थना में आपका संदेश चाहिए। वह बोले, "मैं भेज दूंगा।" उन्होंने संदेश के साथ एक कुएँ का आश्वासन याद करके भेज दिया।

शाम को राजघाट की प्रार्थना में राजेन्द्रबाबू आए। उनका भूदान के विषय में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाषण हुआ और उन्होंने कूप-दान की भी महत्ता बताई। मैंने कहा कि आपकी तरफ से एक कुआं छपरे में बन जाय। वह बोले, "एक छपरे में तो कह ही दिया। एक अबोला में भी बन जाय।" इस तरह दो कुंओं का दान उनकी ओर से मिला। उन्होंने एक हजार रुपए रामेश्वरीबहन के पास भिजवा दिये। उनके व्याख्यान के बाद मैंने पूछा, "बाबूजी, मैं बोलूं क्या?" वह बोले, "हाँ-हाँ, बोलो।" मैंने कहा, "बाबूजी ने तो बहुत प्रेमपूर्वक गम्भीरता के साथ आपसे कहा है। वह तो संत हैं। मैं तो आपसे बहन के नाते प्रार्थना करती हूँ कि आज १०८ कुएँ पूरे कर दीजिए।" सवेरे तक ७६ हुए थे, एक जवाहरलालजी का इस तरह ८० हुए। एक आदमी पाँच हजार रुपए नगदी दस कुंओं के लिए ले आया। एक गुजराती भाई ने ८ कुंओं का वचन दिया। इस तरह ६८ हो गए। किसी को उम्मीद नहीं थी कि इतने कुएँ हो जायँगे। बाबूजी भी बहुत देर तक बैठे रहे। घर पहुँची तो श्रीमानजी से कहा कि १०७ तो हो गए हैं, एक बाकी है। वह एक गाँव में मीटिंग के लिए गए और वहां से करीब ११॥। बजे रात को आए। बारिश हो रही थी। उन्होंने दरवाजा खटखटाकर कहा, "माताजी, एक कुआं आपके लिए ले आया हूँ और वह भी दो-ढाई हजारवाला बड़ा।" मेरा जी भर आया। अनुभव किया कि यह बापू और विनोबा के तप का ही फल है कि मेरा संकल्प इस तरह पूरा हुआ।

उन दिनों विनोबाजी कांचन-मुक्ति की बात पर ही जोर देते थे, इसलिए उन्हें पैसों का आकर्षण नहीं था। जब कोई उनको रुपया-पैसा देता तो वह वापस कर देते। बिहार में भूदान-यज्ञ में किसी बहन ने आकर एक रुपया और दूसरी ने पाँच रुपया दिये तो उन्होंने वापस कर दिये। नवादे में जगदयालजी डालमिया की बहन सौ रुपए का नोट लाईं तो वह भी वापस कर दिया। हां, जब बहनें जेवर देतीं तब वह मुझे कूप-दान के लिए सौंप देते। कहते, बहनों का यह सच्चा त्याग है। पर सब बहनें जेवर दें, यह सम्भव नहीं था और पैसे तो वह लौटा देते थे। तब क्या किया जाय? रांची में एक बहन ७ तोला सोना और दूसरी पांच सौ रुपए

लाई। मैंने सोचा कि रुपये तो लेंगे नहीं, फिर क्या करें ? पर एक बार देकर तो देखें। मैं उन बहनों को लेकर गई। विनोबाजी ने रुपए लेकर मेरे हाथ में दे दिए। तब मैंने कहा कि चलो, अच्छा हुआ। रास्ता खुला। इस तरह कूप-दान में रुपए लिये जाने लगे। जब कृष्णदासभाई मिले तो बोले कि आप तो विनोबाजी से भी बढ़कर निकली कि उनको पैसा लेना सिखा दिया। विनोबाजी इसीलिए कहा करते हैं कि जानकीबहन 'अपवाद' है।

: ३९ :

उपसंहार

मेरी कथा पूरी हुई, पर जीवन-यात्रा अभी जारी है। नौ बरस की उम्र में जावरे से बरधा अपरिचितों के बीच रहने गई। छोटी-सी कच्ची उम्र में ही माता-पिता से जो संस्कार मिल सके, उनको लेकर ससुराल गई। जब होश सम्भाला तो सास और दादा-ससुर का साया उठ चुका था। जमनालालजी से सम्पर्क और परिचय बढ़ने लगा और उन्होंने मेरा जीवन अपने विचारों के अनुकूल ढालना शुरू कर दिया। लेकिन वे अपनी कोई भी इच्छा मुझ पर लादते नहीं थे। जो बात अच्छी होती थी, उस ओर इशारा मात्र कर देते थे। इस प्रकार जीवन चल रहा था कि गांधीजी आये। उन्होंने तो हमारे जीवन में तूफान की तरह प्रवेश किया। सारा जीवन बदल गया। उसके बाद विनोबाजी से परिचय और सम्पर्क बढ़ा। इस प्रकार मेरा जीवन आज जो कुछ है, वह माता-पिता के संस्कारों के अलावा जमनालालजी, बापूजी और विनोबाजी का बनाया हुआ है। बापूजी को तो अपनी जीवन-साधना करने में प्रयत्न करना पड़ा था। उन्होंने नियम से, दृढ़ता से, परिश्रम से अपना जीवन साधा। विनोबा के लिए सब सहज है। इस प्रकार इन तीन साधकों और महापुरुषों के निकट सम्पर्क में रहकर और अपनी शक्ति भर प्रयत्न करते रहने पर जैसी मैं बनी और हूँ, उसकी झलक इस पुस्तक में है।

रह-रहकर मेरे मन में यह विचार उठता है कि यह कथा क्या किसी के काम की होगी भी? लोग इसमें से क्या लेंगे? मेरे पोते-पोती तो इसे, जब यह लेख-माला के रूप में निकल रही थी, पढ़कर इसके कुछ प्रसंगों की हँसी उड़ाया करते थे। मेरे बड़े पोते राहुल ने तो एक दिन बचपन की मेरी उस घटना का जिक्र करते हुए, जब कि मेरी सास ने मुझे व जमनालालजी को एक कमरे में सुलाया था और जमनालालजी ने मेरे पैर में चिकोटी काटी थी,

पूछा, "दादीजी, आप तो सो गई थी। आपको कैसे पता चला कि दादाजी ने चिकोटी काटी ?" मैंने उससे कहा, "अरे रामभार्या, तूने और भी कुछ पढ़ा या इसीपर ध्यान गया ?" इस तरह मुझे शंका ही है कि यह किसी के कुछ मतलब की होगी या नहीं ? दुनिया में पढ़ने को और मनन करने को इतना पड़ा है तो उसमें और कोरे कागजों को काला करके कूड़ा क्यों बढ़ाया जाय ? पर कई ऐसे भाइयों की तरफ से, जो इस प्रकार के संस्मरणों में दिलचस्पी रखते हैं और अच्छा समझते हैं, सूचना आई कि इन्हें पुस्तक का रूप देना चाहिए। कुछ का विशेष आग्रह भी हुआ। हार कर, मैं इसके लिए तैयार हो गई।

मेरे जीवन पर जिन तीन महापुरुषों की गहरी छाप पड़ी, उनमें जमनालालजी और बापूजी तो अब रहे नहीं। विनोबाजी हैं। पर वे तो छोटे भाई के जैसे लगते हैं। उनके पास जाने में मुझे जरा भी डर नहीं लगता। बापूजी के सामने जाने में डर-सा लगता था। उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जमनालालजी ने उनको पिता माना था, सो मैंने भी अंतःकरण के किसी कोने में उनको ससुर-सा समझकर उनका डर बैठा लिया हो। जमनालालजी से तो उनके कामों को लेकर एक प्रकार की ईर्ष्या-सी होती थी। उनसे लड़-झगड़ भी लेती थी। उनको राजी रखने का भी प्रयत्न करती थी; पर इन दोनों के चले जाने से एक अभाव-सा, रीतापन-सा महसूस होता है। वह उन दोनों की मृत्यु के समय नहीं महसूस हुआ था। मुझे अन्दर से काम करने की प्रेरणा होती है। उत्साह भी है। पर कोई हाथ पकड़ कर काम करा ले, ऐसा मन में होता रहता है। विनोबाजी के भूदान में, कूपदान में, मन लगता है, अच्छा भी लगता है, काम भी करती ही रहती हूँ, पर हो नहीं पाता। शक्ति भी अब शरीर में दिन-पर-दिन कम ही होती जाती है, लेकिन रह-रहकर यह बात मन में आती है कि कोई खींचकर काम करा ले।

जब काम-काज में लग जाती हूँ, घूमती रहती हूँ तब घर के लोगों का खयाल तक नहीं आता। पहले भी यही हाल था। अब भी यही है। पर जब परिवार के बीच रह जाती हूँ तो फंस जाती हूँ। यों सब लड़के, लड़कियां, दामाद सुखी हैं, अपने-अपने काम-धन्धे में लगे हैं। उनकी मुझे

किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। किसी को किसी प्रकार का दुर्व्यसन नहीं है। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार सब सेवा-कार्य भी करते ही हैं। यह मेरे लिए कम सन्तोष की बात नहीं है। थोड़ी-बहुत चिन्ता है तो वह कमल और मदालसा के स्वास्थ्य की। मदालसा ने तो श्री महावीरप्रसादजी पोद्दार द्वारा संचालित प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र में रहकर कुछ चिकित्सा कराई भी और वह वहां अधिक रह पाती तो मेरा विश्वास है कि अच्छी भी हो गई होती।

कमलनयन अपना जीवन जरा नियमित बनाले, कुछ व्यायाम और खान-पान में नियमित बने तो उसका स्वास्थ्य भी ठीक हो जाय। पर वह किसी की सुने तब न! जो उसे ठीक जंचता है, वही करता रहता है।

मेरी अपनी तबीयत जब कभी खराब होती है तो मैं तो अपनेको इलाज और दवा-दारू के मामले में महावीरप्रसादजी पोद्दार और राधाकृष्ण के हाथ में सौंप देती हूँ। पोद्दारजी की तो बातों से ही आधी बीमारी दूर हो जाती है। राधाकृष्ण कभी-कदास पास होने पर अपने होम्योपैथी के बक्स में से ४-६ गोलियां दे देता है और उससे आराम भी मिलता है। पर मुझे प्राकृतिक चिकित्सा पर पूरी श्रद्धा है। आंवले को मैं अमृत-तुल्य मानती हूँ और उसे बांटती रहती हूँ।

कभी वरधा, कभी दिल्ली, कभी बम्बई और कभी विनोबाजी के साथ घूमती रहती हूँ। सबसे ज्यादा संतोष मुझे विनोबाजी के पास मिलता है। बम्बई में तो मेरे आकर्षण का केन्द्र मेरी तीन सहेलियां—श्रीमती शारदादेवी बिड़ला, सरस्वती देवी गाड़ोदिया और शांताबाई पित्ती हैं। यों विचारों में हम सब भिन्न हैं, पर बंबई में जहां कोई सभा-सम्मेलन हो, कथा-कीर्तन हो या तालाबों में नहाने जाना हो, तो हम चारों इकट्ठी हो जाती हैं। पर इस मंडली में घूमते-घामते भी, खादी, प्राकृतिक-चिकित्सा, गो-सेवा और सबसे ज्यादा कूपदान में अपनी शक्तिभर कोशिश करती रहती हूँ। साथ ही बापूजी और जमनालालजी की आत्मा से सदा यह आशीर्वाद मांगती रहती हूँ कि इस चोले से जितनी सेवा हो सके, करते रहने की प्रेरणा वह देती रहे।

बहुत दिनों पहले मैंने प्रार्थना-स्वरूप कुछ तुकबंदियां रची थीं।

कविता करना मैं क्या जानूं! पर मन में जो भाव आये, वे उल्टे-सीधे जोड़ लिये थे। उन पंक्तियों के साथ यह कथा समाप्त करती हूं :

हे परम सृष्टि-करतार,
मानूं मैं तेरा उपकार!

दिया पति मुझको अपन समान
दिये सब साधन औ' सब साज
धाम, धन, बुद्धि, कुटुम्ब, समाज
कमी क्यों दया-धरम की की?
बनाओ मेरा हृदय उदार,
हे परम सृष्टि-करतार।

रूप बिन खूब बचाई जी
रूप बिन खूब सम्भाली जी
मिलता जो यदि रूप हरो मैं
आकाशां उड़ती जी
किया तुमने मेरा उपकार,
हे परम सृष्टि-करतार॥

संगति गांधी अलबेले की
लाज बचाई इस मेले की
अन्त में की कैसी खिलवार
बताओ दुनिया के रचनार।
हे परम सृष्टि-करतार॥

लगाई तुमने दारुण चोट
दूर करने को मेरी खोट
जगाने को अथवा हे देव,
छुड़ाने को ममता की टेव?

तुम्हारी माया अपरम्पार,
हे परम सृष्टि-करतार।
मानूं मैं तेरा उपकार॥



अनुक्रमणिका

'मंडल' द्वारा प्रकाशित संस्मरणात्मक साहित्य

१. मेरे समकालीन (गांधीजी) सजिल्द ५)

अपने समय के बड़े नेता से लेकर सामान्य जनसेवक तक के विषय में गांधीजी द्वारा लिखे मार्मिक संस्मरण।

२. बापू की कारावास-कहानी (सुशीला नैयर) सजिल्द १०)

गांधीजी तथा उनके संगी-साथियों के आगाखाँ-महल में इक्कीस मास के बन्दी-जीवन का हृदयस्पर्शी वृत्तान्त—शिक्षाप्रद उपन्यास-सा रोचक।

३. बापू के आश्रम में (हरिभाऊ उपाध्याय) १)

गांधीजी के संसर्ग की छोटी-छोटी पर महान् घटनाओं का वर्णन—ऐसी घटनाएँ जो जीवन पर गहरा असर डालती हैं।

४. बा, बापू और भाई (देवदास गांधी) ॥)

कस्तूरबा, गांधीजी व हरिलालभाई के हृदयस्पर्शी संस्मरण।

५. राष्ट्रपिता (जवाहरलाल नेहरू) २)

नेहरूजी द्वारा लिखी गांधीजी की जीवनी और सिद्धान्त-व्याख्या।

६. मानवता के झरने (ग. वा. मावलंकर) १॥)

श्री मावलंकरजी ने कुछ बन्दियों की सच्ची घटनाएँ इस पुस्तक में दी हैं, जिनमें मानवता की निर्झरिणी बहती है।

७. मैं भूल नहीं सकता (कैलासनाथ काटजू) २॥)

व्यक्ति तथा अदालती मुकदमे के रोचक संस्मरण।

८. डायरी के पन्ने (घनश्यामदास बिड़ला) १)

दूसरी गोलमेज-परिषद् (लन्दन) के अवसर पर महात्माजी के साथ के रोचक व तथ्यपूर्ण संस्मरण।

९. अमिट रेखाएँ (सम्पा०—सत्यवती मल्लिक) ३)

मार्मिक संस्मरणों और भाव-चित्रों का अपूर्व संग्रह।

हमारा जीवनी-साहित्य

१. आत्मकथा

(गांधीजी)

२. मेरी कहानी

(जवाहरलाल नेहरू)

३. मेरी मुक्ति की कहानी

(टाल्स्टाय)

४. मेरी जीवन-यात्रा

(जानकीदेवी बजाज)

५. जीवन-प्रभात

(प्रभुदास गांधी)

६. श्रेयार्थी जमनालालजी

(हरिभाऊ उपाध्याय)

७. गांधी की कहानी

(लुई फिशर)

८. एक आदर्श महिला

(विनायक तिवारी)